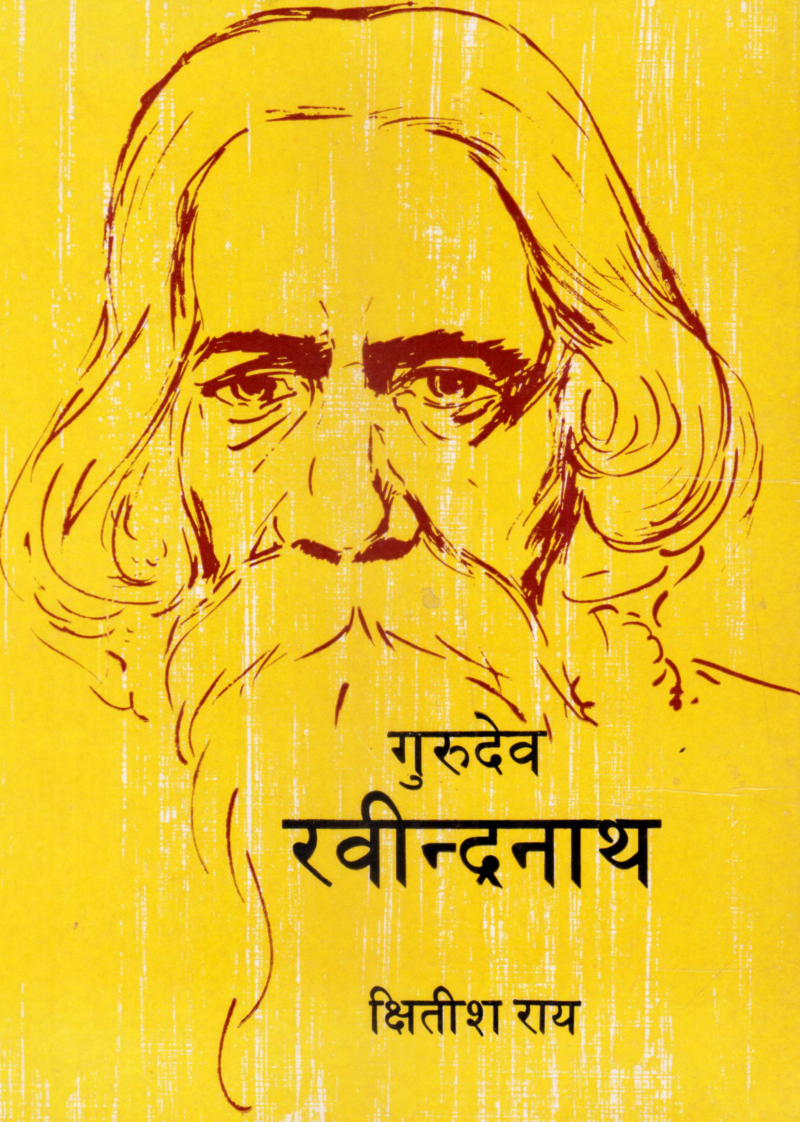


गुरुदेव

रवीन्द्रनाथ

क्षितीश राय

गुरुदेव
रवीन्द्रनाथ

लेखक : क्षितीश राय
अनुवादिका : माया गुप्त

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

प्रथम संस्करण — ज्येष्ठ 1883 • मई 1961
द्वितीय संस्करण— पौष 1888 • जनवरी 1967
तृतीय संस्करण—भाद्रपद 1898 • सितम्बर 1976
चतुर्थ संस्करण —1910 आश्विन • अक्तूबर 1988

मूल्य : 14 रुपये

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित।

विक्रय केन्द्र • प्रकाशन विभाग

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001
- कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, बम्बई-400038
- 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700069
- एल० एल० आडीटोरियम, 736, अन्नासलै, मद्रास-600002
- बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004
- निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम-695001
- 10-बी०, स्टेशन रोड, लखनऊ-226019
- राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स, हैदराबाद-500004

संजय प्रिंटर्स, मानसरोवर पार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032 द्वारा मुद्रित।

निवेदन

पथ का काम है, घर को गैर के, स्वदेश को विदेश के और अतीत को अनागत के साथ मिलाना। वही अन्तहीन पथ रवि की प्रदक्षिणा का पथ है, विश्व का पथ है। इसी उदयास्त के पथ पर पूर्व पश्चिम के साथ और भारत विश्व के साथ मिलता है। पर पथ का यहीं अन्त नहीं होता। सूर्य के अन्दर की शुद्ध, शुभ्र ज्योति जिस प्रकार इन्द्रधनुष के वर्णों में छटा दिखलाती है. उसी प्रकार रवीन्द्र-प्रतिभा का केन्द्र जो आविः है, वह उनकी रचना में, साधना में, स्थान और काल से परे एक महाविश्व में विकीर्ण होता है। रवीन्द्रनाथ सारे विश्व में फैले इस पथ के पथिक थे।

फिर भी, यदि कोई यह समझे कि यह पुस्तक दार्शनिकों के लिए है, तो यह भूल होगी। असल में, यह पुस्तक किशोर उम्र के लोगों के लिए लिखी गई है। इस उम्र का अन्यतम लक्षण है, बड़े आदर्शों और उच्च भावनाओं के प्रति अनुराग। महान और उच्च जीवन के उदाहरण से अनुप्रेरित होने का यही महान क्षण होता है।

इसलिए इस पुस्तक में रवीन्द्रनाथ की युवावस्था के पूर्व का इतिहास कुछ विस्तार के साथ दिए जाने पर भी बाद के अंश में घटनाओं के सन्, तारीख का अनुवर्तन नहीं किया गया। विश्व के व्यापक क्षेत्र में अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए रवीन्द्रनाथ जिस मार्ग से चले थे, उसी मार्ग का कुछ परिचय देने की चेष्टा इस पुस्तक में की गई है। उनके इस यात्रा-मार्ग में बराबर कुछ-न-कुछ रचनाएं आती गईं और वे उनकी यात्रा के चिन्ह हैं। रवीन्द्र-चरित्र की इस भूमिका को पढ़कर, जीवन-पथ के नए यात्री यदि रवीन्द्र के विषय में और अधिक जानने के लिए उत्सुक हों, तो हम अपने श्रम को सार्थक समझेंगे।

इस पुस्तक को मेरे मित्र श्री कानाई सामान्त ने आदि से अन्त तक पढ़ा है और संशोधित किया है। उन्होंने इस पुस्तक में जितना और जो कार्य किया है, वह मित्रता से कहीं अधिक है, इसलिए मैं उनके प्रति बहुत आभारी हूं। इसी प्रकार, अन्नदाशंकर राय ने कई मूल्यवान उपदेश और निर्देश दिए हैं। रथीन्द्रनाथ ठाकुर, अमिय चक्रवर्ती और कृष्ण कृपालानी ने भी मुझे प्रोत्साहन दिया। इन सबके प्रति मैं आभारी हूं। अन्त में, यह कह देना चाहिए कि यदि रवीन्द्र-जीवन की चर्चा में आजीवन व्रती प्रभातकुमार मुखोपाध्याय का सौहार्द और प्रेरणा प्राप्त न होती, तो यह पुस्तक शायद लिखी ही न जाती।

—क्षितीश राय

शान्तिनिकेतन
7 मई 1960

भूमिका

रवीन्द्र-जीवन एक महासागर की तरह है। रवीन्द्र-साहित्य भी उसी प्रकार एक महासागर है। इसमें गहरे पानी पैठ, जिसे जो रत्न मिलता है, वही उसे लेकर अपने को कृतार्थ मान, जनता के सामने आता है। उन रत्नों से भले ही उस महासागर के ऐश्वर्य का परिचय मिले, पर पूर्ण परिचय नहीं मिलता।

पूर्ण परिचय तो तभी मिल सकता है, जब पाठक स्वयं डुबकी लगाए। रवीन्द्रनाथ की नश्वर देह का अन्त हो चुका है, पर उनका साहित्य सर्वकाल के लिए विद्यमान है और जो भी चाहे, वह अहं के वस्त्र उतार कर उसमें डुबकी लगा सकता है। यह पुस्तक उसकी भूमिका-मात्र है, जैसा कि लेखक स्वयं भी कहते हैं। लेखक रवीन्द्रनाथ के बहुत निकट थे, इस नाते पुस्तक अत्यन्त प्रामाणिक है।

—माया गुप्त

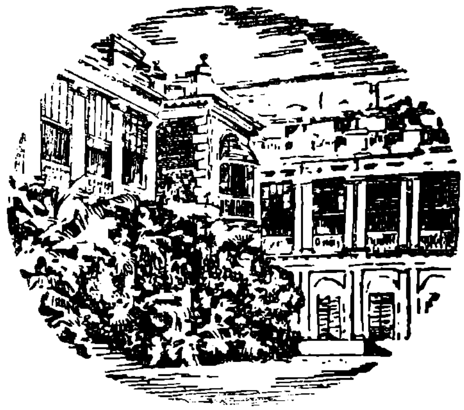
26 जनवरी 1961

विषय-सूची

1.	पच्चीस वैशाख	1
2.	बचपन	3
3.	कल्पना-लोक	4
4.	स्कूल	5
5.	अजीब पढ़ाई	6
6.	स्कूल से भागना	7
7.	काव्य रचना	8
8.	गीत	10
9.	यज्ञोपवीत	11
10.	बोलपुर-शान्तिनिकेतन	12
11.	हिमालय	14
12.	वापसी	17
13.	माताजी की मृत्यु	18
14.	संजीवनी सभा	18
15.	पारिवारिक वातावरण	19
16.	नतुन दादा	21
17.	नई बहूरानी	22
18.	भारती	23
19.	भानुसिंह ठाकुर की पदावली	24
20.	इंग्लैंड	25
21.	'वाल्मीकि-प्रतिभा', 'संध्या-संगीत', 'बहू ठाकुरानीर हाट'	28
22.	'निर्झरेर स्वप्नभंग'	30
23.	'प्रकृतिर प्रतिशोध'	32
24.	कवि को पुरस्कार	32
25.	निष्क्रमण	33
26.	सन् 1884-1890	34
27.	शिलाईदह	35
28.	गल्पगुच्छ	38

29. स्वदेशी साधना 39
30. स्वदेशी भाषा 40
31. देशप्रेम की भावना 41
32. स्वदेशी समाज 42
33. स्वदेशी आन्दोलन 42
34. प्रायश्चित 44
35. गृह-विद्यालय 45
36. नैवेद्य 47
37. आश्रम 49
38. ब्रह्म-विद्यालय 51
39. दिनचर्या 54
40. पचास वर्ष 57
41. अंग्रेजी 'गीतांजलि' 58
42. नोबेल पुरस्कार 60
43. भारत की यज्ञशाला 61
44. जापान-अमरीका—1916 62
45. भारत-प्रार्थना 63
46. विश्वभारती-प्रतिष्ठा 65
47. विश्वभारती का भावरूप 66
48. परिक्रमा 67
49. अथेयं विश्वभारती 68
50. श्रीनिकेतन 69
51. श्रीनिकेतन की प्रतिष्ठा 71
52. विश्वभारती के राहों 73
53. महात्मा और गुरुदेव 74
54. सृष्टि की विविधता 79
55. आत्म-परिचय 82
56. बाईस श्रावण 84
परिशिष्ट 88

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ



पच्चीस वैशाख

प्लासी के युद्ध (सन् 1757) के बाद कलकत्ता की समृद्धि के युग का सूत्रपात हुआ। करीब-करीब इसी समय गंगा के किनारे पाथुरेघाटा जोड़ासांको इलाके में कई सम्भ्रांत बंगाली परिवार पक्की इमारतें बनवाकर बस गए। इन्हीं इमारतों में से एक जोड़ासांको की ठाकुर-बाड़ी भी है। नीलमणि ठाकुर ने एक इमारत की प्रतिष्ठा की थी लेकिन वह अब नहीं है। जो इमारत आज मौजूद है वह बाद में बनाई गई थी। पुराने ढंग की एक बड़ी-सी इमारत, बड़े-बड़े खम्भे, रेलिंग से घिरे हुए चौड़े बरामदे, एक के बाद एक महल। चितपुर की जिस गली में यह मकान है, उसका नामकरण द्वारकानाथ ठाकुर के नाम पर किया गया है।



द्वारकानाथ ठाकुर

द्वारकानाथ नीलमणि के पौत्र थे। उनका काफी रौब-दाब था—वैभव भी अपार था। उम्र में कुछ छोटे होने पर भी वह राममोहन के मित्रों में से थे। अंग्रेजों के साथ भी उनका काफी मेल-मिलाप था। राममोहन की तरह वह भी इंग्लैण्ड गए थे। वह वहां राजाओं की शान-बान से रहते थे और खर्च भी हाथ खोल कर करते थे। उनका शाही रंग-ढंग देख कर लोग उन्हें 'प्रिंस' कहा करते थे। द्वारकानाथ की इच्छा थी कि महारानी विक्टोरिया की कृपा से अपना कारोबार और बढ़ाएं। पर मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है। एक रोज की बीमारी में ही सुदूर लंदन शहर में द्वारकानाथ की मृत्यु हो गई। उस समय (सन् 1846) उनके बड़े लड़के देवेन्द्रनाथ की उम्र उनतीस साल की थी।

बचपन से ही देवेन्द्रनाथ का झुकाव धर्मचिंतन की ओर था। सांसारिक विषयों में उनकी दिलचस्पी ज्यादा नहीं थी। पिता की मृत्यु के बाद उन्हीं के कंधों पर विशाल सम्मिलित परिवार का बोझ आ पड़ा। इंग्लैण्ड में रहते समय पानी की तरह रुपये बहाने के फलस्वरूप, द्वारकानाथ काफी कर्ज़ छोड़ गए थे। कर्ज़ के कारण उनके कई कारोबार ठप्प हो चुके थे। महाजन दरवाजे पर चक्कर लगाने लगे। विलास के जितने भी उपकरण थे, देवेन्द्रनाथ ने उन सबको बेच डाला, पर इतनी थोड़ी-सी रकम से कुछ होने वाला नहीं था, क्योंकि कर्ज़ एक करोड़ रुपये के लगभग था। फिर, ऐसे भी बहुत-से कर्ज़ थे, जिनका अता-पता या कोई लिखा-पढ़ी नहीं थी। ऊपर से चन्दों में भी भारी रकमें देने के वादे किए गए थे। कानूनी तौर पर देवेन्द्रनाथ ये कर्ज़ अदा करने के लिए मजबूर नहीं थे, पर पितृऋण को भला कैसे अस्वीकार करते? फिर एकाएक इतनी रकम चुकाई भी नहीं जा सकती थी, इसलिए महाजनों ने खुद ही वसूली की मियाद बढ़ा दी। धीरे-धीरे उन्होंने कर्ज की यह भारी रकम मूल-ब्याज सहित पाई-पाई चुकता कर दी।

यह कर्ज चुकाना देवेन्द्रनाथ के लिए तपस्या-जैसा ही था। उन्होंने विलासिता पूरी तरह त्याग दी और लगातार एकाग्र चित्त होकर सम्पत्ति का इन्तजाम करने में जुटे रहे। पिता की मृत्यु के तीन वर्ष पहले (सन् 1843) उन्होंने राममोहन राय द्वारा प्रवर्तित धर्म 'एकैश्वरवाद' की दीक्षा ले ली थी। परिवार के इस संकटकाल में 'एक और अद्वितीय ब्रह्म' का चिन्तन ही उनका सबसे बड़ा सहारा था। उनकी साधुता, चरित्रबल और धर्मनिष्ठा को देखकर लोग उन्हें महर्षि कहने लगे थे। इसलिए आज-कल भी जोड़ासांको की ठाकुरबाड़ी को लोग महर्षि-भवन कहते हैं।


देवेन्द्रनाथ ठाकुर

सांसारिक काम-काज को जो एक राह मिल गई, तो महर्षि का मन धार्मिक-साधना की ओर और झुक गया। वह अक्सर कलकत्ता की भीड़-भाड़ से दूर, पहाड़ या नदी के किनारे किसी निर्जन स्थान पर चले जाते। ऐसे ही समय में 1861 ई० की 7 मई को जोड़ासांको की ठाकुर बाड़ी में माता शारदा देवी की कोख से देवेन्द्रनाथ की चौदहवीं सन्तान रवीन्द्रनाथ ने जन्म लिया। बंगला सन् के हिसाब से उस दिन वैशाख, 1268 की तिथि 25 थी। उसी शुभ दिन की

याद में आज सारे देश में मंगल-शंख बज उठता है, सहस्रों कण्ठों से गीत गूंज उठता है—

चिर-नूतनेरे दिल डाक
पचीसे वैशाख……

यानी वैशाख की पच्चीस तारीख ने चिर नवीन को आमन्त्रित किया।

बचपन

जब रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ, तब ठाकुर-परिवार का रहन-सहन सादे ढंग से ही चल रहा था। ठाकुर परिवार के लड़कों के खेल के उपकरण थोड़े थे, पोशाक भी मामूली थी—सूती कुर्ता और पाजामा, यहां तक कि मां का प्यार भी रवीन्द्रनाथ को कम ही मिला। शारदा देवी इतने बड़े परिवार की मालकिन थीं; अत: अपने सबसे छोटे लड़के को लाड़-प्यार से साथ-साथ लिए फिरें, इसका मौका ही कहाँ था।

चार-पांच साल होते-होते रवि अपने बड़े भाई सोमेन्द्रनाथ और भांजे सत्यप्रसाद के साथ बाहरी महल में नौकरों की निगरानी में बड़े होने लगे। भाई और भांजे, दोनों ही उनसे दो साल बड़े थे।

नौकरों में से एक का नाम श्याम था। उसका काम ही बच्चों की देखभाल करना था, मगर उसने अपना काम हल्का करने के लिए बच्चों का घूमना-फिरना करीब-करीब बंद कर दिया था। कभी-कभी वह बंद कमरे में रवि को अकेला बैठाकर उनके चारों ओर एक लकीर खींच कर धमकी देकर चला जाता था—घेरे के बाहर पांव रखा कि बस, लक्ष्मण-रेखा से बाहर जाने पर सीता की जो दुर्दशा हुई थी, उसे याद करके बालक रवीन्द्र खिड़की पर बैठे-बैठे सारा दिन बिता देते थे। खिड़की की झिलमिली को जरा-सा उठाकर वह पोखरे के पक्के घाट को देखते—पूरब में पुराने बरगद की लटकती जटाओं और दक्षिण की ओर नारियल के पेड़ों की कतारों को भी। सवेरे से लेकर दोपहर तक घाट पर कितनों ही का आना-जाना होता था, हरेक के नहाने-धोने का अलग ढंग था। रवीन्द्रनाथ बाहरी दुनिया को देखते रहते। वह कितनी अजीब और रहस्यमयी लगती थी।

ईश्वर या व्रजेश्वर, एक नौकर था। किसी जमाने में वह पाठशाला का गुरुजी रह चुका था। वह जब-तब पंडिताऊ भाषा में बातें करता, गुरु-गंभीर ढंग से; पर था वह अफीमची। अफीमचियों को एक विशेष वस्तु का बड़ा मोह होता है—दूध के बिना उनका काम नहीं चलता। बच्चों को खिलाना-पिलाना व्रजेश्वर के ही जिम्मे था। वह बच्चों को जितना देना होता था, उससे कहीं ज्यादा अपने लिए रख छोड़ता था। पर उसमें एक महान गुण भी था—वह शाम को नौकरों की महफिल में बैठकर, रेंडी के तेल का दीया जलाकर, रामायण

और महाभारत बांच कर सुनाता था। इसी कमरे के एक कोने में फटी हुई चटाई पर बैठकर रवि बड़े आग्रह से राम, सीता, भीम, अर्जुन आदि की कहानियां सुनते थे। लव-कुश की



व्रजेश्वर का महाभारत पाठ

कहानी उन्हें सबसे अधिक भाती थी। लव-कुश बालक थे तो क्या, उन्होंने लड़ाई में बाप और चाचा तक को पछाड़ा था।

बड़ों की दुनिया में बच्चों की गुज़र नहीं थी—न अन्दर महल में और न सदर में। उस ज़माने में थियेटर, सिनेमा, फुटबाल आदि का बखेड़ा तो था नहीं। अपने साथी-संगियों के साथ बड़ों की मजलिस बाहर ही जमती। पर हाय, बड़ों के आमोद-प्रमोद में बच्चे दूर से भी हिस्सा नहीं बंटा पाते थे। अगर कोई हिम्मत बांधकर आसपास पहुँच भी जाता, तो तुरन्त डांट पड़ती :

—जाओ, खेलो।

पर खेल में जब बच्चे स्वभावतः शोरगुल मचाते, तो उन्हें सुनना पड़ता :

—चुप रहो। शोर मत करो।

कल्पना-लोक

बड़ों की दुनिया और बाहर की दुनिया, दोनों ही बालक रवीन्द्र की पहुँच के बाहर थीं, शायद इसीलिए उन्होंने अपने कल्पना-लोक को प्रत्यक्ष पा लिया था। उस दुनिया में

जैसे रामायण का स्थान था, वैसे ही दैत्य, दानव, लोककथाओं के राजकुमार और रघु डकैत और बिशु डकैत भी प्रत्यक्ष थे।

छुट्टी के रोज़ दोपहर में खा-पीकर जब श्याम खर्राटे ले रहा होता, तब मौका पाकर रवीन्द्र खज़ांचीखाने के बरामदे में रखी हुई पुरानी ज़माने की पालकी में चुपचाप जा बैठते और दोनों ओर से दरवाज़े बन्द कर, खड़ी पालकी में बैठे-बैठे, दूर-दूर के देशों की सैर करते। कभी तो पालकी घने जंगलों के बीच से होकर गुज़रती, जहां उन्हें शेर की चमकती आंखें दिखाई पड़तीं और उन्हें देखकर शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते और कभी पालकी मोरपंखी-नाव बनकर सागर में तैरने लगती, डांड़ पानी को काटता चलता—छप-छप, छप-छप; लहरें उमड़-उमड़ कर बल खाती चलतीं।

भावुक बालक का मन कभी सीढ़ी पर सीढ़ी लगाकर आसमान छूने लगता और कभी एक के बाद एक बांस धरती में गाड़ कर पाताल तक जा पहुंचता।

उसके मन में प्रकृति की छवि गहराई तक समा जाती। शरद काल की सुबह आंख खुलते ही वह दौड़कर मकान के भीतर एकांत फुलवाड़ी में पहुंच जाता। ओस से भीगी घास-पात की महक हवा में तैरती रहती, नारियल की चोटी पर सूरज की पहली किरणें थिरक उठतीं —लगता, मानो यही नन्दन-कानन है।

जिस दिन ठाकुर-दालान में बैठकर बालक ने वर्ण-परिचय किया और पहले पाठ से पढ़ाई शुरू की :

जल पड़े
पाता नड़े...

यानी, पानी टपकता है और पत्ता हिलता है, उस रोज़ दिन-भर बरसात की टप-टप और उससे होने वाला पत्तों का कम्पन बालक के मन में मंडराता रहा। आदिकवि की पहली कविता की सिहरन बालक के अविकसित कवि-मन को छू गई।

स्कूल

ठाकुर-दालान में बैठकर पढ़ने का युग खत्म होने पर, सोमेन्द्र और सत्यप्रसाद ओरिएन्टल सेमिनरी में भरती हो गए। रोज़ घोड़ागाड़ी पर सवार होकर वे स्कूल जाते और घर लौटकर रवि को बाहरी दुनिया का सरस वर्णन सुनाते। वह बाहरी दुनिया सचमुच कितनी अजीब थी। रवि ने एक दिन रोना शुरू कर दिया, स्कूल जाने के लिए। अभी तो बच्चा है, स्कूल कैसे जाएगा ? पर बालक ने ज़िद नहीं छोड़ी, और तब गुरुजी ने उसके गाल पर एक चपत जमाकर कहा :

—अभी तो स्कूल जाने के लिए रो रहे हो, पर इसके बाद स्कूल न आने के लिए और भी अधिक रोओगे ।

बात बिलकुल सच उतरी। दो दिन स्कूल जाने पर ही रवि की समझ में आ गया कि बन्द कमरे में श्याम नौकर की खींची हुई उस लक्ष्मण-रेखा और तमाम खानोंवाले इस बड़े-से-सन्दूक में कोई फर्क नहीं है। स्कूल में तो झिलमिली उठा कर बाहर की दुनिया को देख कुछ कल्पना मिलाकर उसे रंगीन बनाने का मौका भी नहीं था।

लड़कों की भी कुछ पसंद या नापसंद हो सकती है, इसकी परवाह स्कूल में किसी को नहीं थी। बस, उन्हें तो एक सख्त जेलखाने में जबर्दस्ती रोज़ाना दस से चार बजे तक की कड़ी कैद की सज़ा मिलती थी। चारों ओर की दीवारें मानो हर वक्त तलवार लिए पहरा देती रहतीं।

जो लड़का ठीक से पाठ न सुना पाता, उसे बेंच पर खड़ा करवाकर, दोनों हाथ उठवाकर उस पर कई स्लेटें लाद दी जातीं। हर मास्टर जैसे मनुष्य के भेष में लचकदार बेंत था। लड़कों की बातचीत और चाल-चलन भी ऐसा नहीं था कि उनसे आसानी से मेल-जोल हो सके। आधी छुट्टी का समय रवि अपने नौकर के साथ दोमंज़िले पर रास्ते की तरफ वाली खिड़की पर बैठे बिता देते।

सेमिनरी में ठाकुर-परिवार के लड़के ज्यादा दिन नहीं पढ़े। कुछ दिन बाद ही उन्हें नार्मल स्कूल में भरती कर दिया गया। अब रवि पढ़ाई की चक्की में पड़ गए। सवेरे से रात तक चक्की चलती रहती। घर में यह चक्की चलाने वाले होते थे मंझले भाई हेमेन्द्रनाथ, जो रवि से उम्र में सतह साल बड़े थे। रूटीन बांधकर वह लड़कों को तमाम विषयों की पढ़ाई में जोत देते थे।

अजीब पढ़ाई

हेमेन्द्रनाथ ठीक कहते थे कि पहले चाहिए मातृभाषा बंगला का अच्छा पुख्ता ज्ञान और उसके बाद आती है अंग्रेज़ी। उस ज़माने में अंग्रेज़ी की पढ़ाई की खूब धूम थी। उस समय हेमेन्द्रनाथ ने बहुत दिनों तक बंगला भाषा के आधार पर शिक्षा का जो प्रबंध किया था, उसका परिणाम आगे चल कर रवि के लिए बहुत ही अच्छा निकला। मातृभाषा में शिक्षा होने के कारण बिना समझे-बूझे रटना नहीं पड़ता था। अनेक विषयों की शिक्षा पाने के साथ-साथ कई तरह से मानसिक विकास भी होता रहा। बाद को चलकर रवीन्द्र ने कहा था—"पढ़ाई भोजन की ही तरह है। पहले कौर के साथ अगर स्वाद मिल जाता है, तो खाना आसानी से हज़म हो जाता है। विदेशी भाषा के माध्यम से अगर कुछ सीखें, तो व्याकरण दुरुस्त होने के पहले ही सीखने की भूख मर जाती है।"

परंतु बंगला के माध्यम से ही हुआ तो क्या, सुबह से शाम तक रूटीन में बंधा जीवन नौ-दस वर्ष के बालक को कैसे अच्छा लग सकता था ? सर्दी हो या गर्मी, भोर में एक लंगोटी लगा कर उसे कुश्ती के अखाड़े में उतरना पड़ता। एक काना पहलवान बालकों को कुश्ती के दांव-पेंच सिखाता। फिर उस अखाड़े की मिट्टी से भरे शरीर पर कुर्ता पहनकर पढ़ने के कमरे में आ बैठना पड़ता। सवेरे छः से साढ़े नौ तक एक शिक्षक लगातार रेखागणित, गणित, बंगला, इतिहास, भूगोल, भौतिक शास्त्र, दर्शन शास्त्र और प्राणिविज्ञान पढ़ाया करता। दस से चार तक स्कूल होता और फिर घर लौटते ही ड्राइंग और जिमनास्टिक में जुट जाना पड़ता। दिन-भर की मेहनत के बाद जब शरीर और मन, दोनों थक जाते, तो मेडिकल कॉलेज के छात्र अघोर बाबू पढ़ाने आते। पढ़ने के कमरे में एक कंकाल टंगा रहता; उसके सहारे वे बच्चों को शरीर-रचना सिखाते और अंग्रेज़ी भी पढ़ाते। दोनों ही एक-जैसे नीरस और कठिन। शाम को टिमटिमाती हुई रोशनी में काली जिल्दवाली, अंग्रेज़ी की मोटी-सी पुस्तक खोलकर बैठते ही नींद के मारे आंखें झपकने लगतीं। ऐसी हालत में, यदि सौभाग्य से किसी दिन घर के पास गुज़रते हुए बड़े भैया द्विजेन्द्रनाथ की निगाह इस दृश्य पर आ पड़ती, तो वे बच्चों को छुट्टी दिलवा देते, पर छुट्टी मिलते ही नींद उड़ जाती।

रविवार को भी पूरी छुट्टी नहीं मिलती थी। पर उस दिन की पढ़ाई और दिनों से कुछ अलग होती। किसी दिन तो घर के गवैया विष्णु चन्द्र चक्रवर्ती से ब्रह्म-संगीत सीखना होता, या उसी में मौका पाकर हल्के ढंग के गीत सीखने पड़ते। कभी-कभी विज्ञान के एक शिक्षक आकर कलपुर्जों के सहारे फलितविज्ञान के कुछ आसान प्रयोग करके दिखाते। जिस रविवार को वह न आते, वह जैसे बेकार ही हो जाता।

स्कूल से भागना

हफ्ते में एक ही रविवार—बाकी छः दिन लगातार पढ़ाई-लिखाई की एकरसता से छुटकारा पाने का क्या उपाय किया जाए ? मास्टर लोग कभी बीमार ही नहीं पड़ते थे और नागा भी नहीं करते थे। फलस्वरूप छात्रों को ही कभी-कभी बीमार पड़ जाना पड़ता था। पर रवि की तन्दुरुस्ती इतनी अच्छी थी कि ज़ोर डालने पर भी किसी रोग को बुलाना संभव न होता। ओस या बरसात में भीगने पर भी कभी सर्दी-जुकाम, बुखार-खांसी के लक्षण दिखाई न पड़ते तो निरुपाय बालक को मां के पास जाकर कहना पड़ता :

—मां पेट में दर्द है।

मां मन-ही-मन हंसतीं, फिर भी नौकर को बुलाकर कह देतीं :

—मास्टरजी से कह दो, आज पढ़ाई नहीं होगी।

स्कूल से भागे हुए इस लड़के का एक खेल था—मास्टर बनने का खेल। पढ़ाई के कमरे के बरामदे को घेरे हुए रेलिंग को छात्र मानकर, बालक छड़ी लेकर बैठ जाता। कई छात्र

अच्छे होते हैं, कई बुरे, कोई बुद्धू और कोई बुद्धिमान—इस सम्बन्ध में छोटे मास्टर को जरा भी संदेह नहीं था। शरारती और बुद्धू छात्रों पर मार पड़नी ही थी।

यों, पाठ्य पुस्तकों में रवीन्द्र का मन तो नहीं लगता था, पर तमाम विषयों पर बंगला की बहुत-सी किताबें पढ़कर वह उसमें खूब तेज हो गए थे। नार्मल स्कूल की वार्षिक परीक्षा में उस साल रवीन्द्र को सबसे ज्यादा नम्बर मिले। कक्षा के मास्टरजी ने कहा :

—साल-भर जिस छात्र ने पढ़ाई नहीं की, उसे किसी भी तरह प्रथम श्रेणी नहीं मिल सकती। अमीर का लड़का है, इसीलिए परीक्षक ने उसे जानबूझकर ज्यादा नम्बर दे दिए हैं।

तय हुआ कि स्वयं सुपरिण्टेण्डेण्ट की देखरेख में उनकी परीक्षा ली जाए, पर इस बार भी देखा गया था कि रवीन्द्र को बहुत अच्छे नम्बर मिले।

रवि जब ग्यारह वर्ष के थे, तब महर्षि के आदेश पर नार्मल स्कूल की पढ़ाई एकाएक खत्म हो गई। सोमेन्द्र, सत्यप्रकाश और रवि, तीनों बंगाल अकादमी नामक अंग्रेजी स्कूल में भर्ती हो गए। यहां के लड़के शरारती तो थे, पर नार्मल स्कूल के ज्यादातर लड़कों की सोहबत जिस प्रकार असम्मानजनक लगती थी, वैसा वहां नहीं लगता था। हथेली पर उल्टा 'ऐस' (गदहा) लिखकर, कभी-कभी कोई लड़का 'हैलो' कहने के साथ पीठ पर ठप्पा लगा देता। कभी कोई एकाएक सिर पर पका हुआ केला चिपकाकर छिप जाता। कभी कोई चट से एक चांटा जमाकर, पल-भर में भोला-भाला बनकर, दूसरी ओर ताकने लगता। बचपन की ये सारी हरकतें शरीर पर कुछ चोट तो पहुंचाती थीं, लेकिन मन पर कोई ऐसी-वैसी छाप नहीं छोड़ती थीं।

बंगाल अकादमी में अंग्रेज़ी के माध्यम से पढ़ाई होती थी। ठाकुर-परिवार के लड़के वह पढ़ाई नहीं समझ पाते थे और समझने की कोशिश भी नहीं करते थे। छोटा-सा स्कूल पर फीस लम्बी-चौड़ी। अमीरों के लड़के महीना लगते ही फीस जमा करते हैं—प्रिंसिपल डिक्रूज साहब सोचते—यही बहुत है। यहां कष्ट तो नहीं था, पर आखिर स्कूल ही ठहरा, तो मन नहीं लगता था। स्कूल से भागने के प्रधान सहारे थे, भाई साहब के फारसी के शिक्षक मुंशीजी। उनके पीछे पड़ते ही वह अंग्रेजी में छुट्टी की अर्जी लिख देते। पता नहीं, अंग्रेज प्रिंसिपल साहब मुंशीजी की अंग्रेजी पूरी तरह समझ भी पाते थे या नहीं, पर बिना कुछ पूछे छुट्टी मंजूर कर देते थे।

काव्य-रचना

उस समय रवि की उम्र सात-आठ साल से ज्यादा नहीं थी। उनसे पांचेक साल बड़े भानजे ज्योतिप्रकाश ने एकाएक रवि मामा को कमरे में बुलाकर, चौदह वर्णों में पयार छन्द में कविता कैसे लिखी जाती है, यह समझा दिया और कहा :

—तुम्हें कविता लिखनी पड़ेगी।

खजांचीखाने के एक कर्मचारी की कृपा से एक नीले रंग की कापी भी मिल गई। कापी जेब में ही रहने लगी। कविता लिखने का प्रारंभिक डर देखते-ही-देखते काफूर हो गया, पयार छंद भी कुछ ठीक उतरने लगा। बड़े-बड़े कच्चे अक्षरों में टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियों में लिखी हुई कविताओं से धीरे-धीरे नीली कापी भरने लगी। छोटे दादा सोमेन्द्र रवि की कविताओं पर हर्ष और गर्व से फूल उठते; जो भी सामने पड़ता, उसे पकड़कर कहते :

—रवि ने एक कविता लिखी है। जरा सुन लीजिए न।

खज़ांचीखाने के अमले से लेकर बड़े भाइयों के मित्रों तथा अतिथियों में से कोई भी नहीं छूटा।

धीरे-धीरे रवि का नाम स्कूल में भी फैल गया। नार्मल स्कूल के हेडमास्टर साहब ने एक दिन उसे अपने कमरे में बुलवा भेजा, पूछा :

—सुना, तुम कविता करते हो ?

बालक कवि ने लज्जित होकर स्वीकार किया। एक दिन हेडमास्टर साहब ने कविता की दो पंक्तियां लिख दीं :

रविकरे ज्वालातन आछिल सबाई,
बरषा भरसा दिल आर भय नाई

यानी, रवि के करों से जब सब परेशान थे, तब वर्षा ने आकर भरोसा दिया कि अब डर नहीं है।

उन्होंने कहा कि दो और पंक्तियां लिखकर रवीन्द्र उसे पूरा कर लाएं।

रवि लिख कर लाए :

मीनगण हीन हये छिल सरोवरे,
एखन ताहारा सुखे जलक्रीड़ा करे।

यानी, मछलियां सरोवर में हीन होकर पड़ी थीं; अब वे सुख से जल में किलोलें करती हैं।

हेडमास्टर के द्वारा यह खबर स्कूल सुपरिण्टेण्डेण्ट गोविन्द बाबू के कानों तक पहुंची। एक दिन जब छुट्टी होनेवाली थी, तो नाटे कद के मोटे और गंभीर प्रकृति के इन सज्जन ने रवि से फर्माइश की कि तुम सुनीति पर एक कविता लिख लाओ।

अगले दिन वह कविता पढ़कर बेहद खुश हुए। उसी वक्त रवि को साथ लेकर वह स्कूल की सबसे ऊंची कक्षा में पहुंचे और बोले :

—इसे पढ़कर इन सब बड़े लड़कों को सुनाओ।

कविता सुनकर बड़े लड़के आपस में कहने लगे :

—यह रवि की अपनी लिखी हुई कविता नहीं हो सकती। वह जरूर किसी छपी हुई पुस्तक से नकल मारकर लाया होगा।

इसके पहले दो बार रवि बंगला में खूब अच्छे नम्बर लाए थे। सो, गोविन्द बाबू समझ गए कि ठाकुर-परिवार का यह छोटा लड़का होनहार है।

गीत

कविता के साथ-साथ हाथ-में-हाथ डाले गीत भी आने लगे। विष्णु चन्द्र चक्रवर्ती के पास बचपन से ही लोकगीत और ब्रह्मसंगीत की शिक्षा शुरू हो गई थी। उससे भी पहले, जब नौकरों की महफिल में बैठकर वह ईश्वर या ब्रजेश्वर से रामायण की कहानी सुनते थे, तब कभी-कभी महर्षि के एक साथी किशोरी चाटुर्ज्या उस कमरे में आंधी की तरह घुसकर अपने छोटे दादाभाई (रवि) को दासूराय की पांचाली सुना जाते थे :

ओरे रे लक्ष्मण !
ए कि अलक्षण
विपद घटेछे विलक्षण

यानी, अरे भाई लक्ष्मण, यह कैसा कुलक्षण है। विलक्षण विपत्ति आ पड़ी।

मंझले दादा हेमेन्द्रनाथ, नतुन दादा ज्योतिरिन्द्रनाथ और उनके यार-दोस्त, सभी संगीत के पीछे पागल थे। चचेरे भाई गणेन्द्रनाथ और गुणेन्द्रनाथ, दोनों ही संगीत और नाटक के अच्छे जानकर और समर्थक थे। बड़े होकर रवीन्द्रनाथ ने कहा था :

—यह तो याद नहीं पड़ता कि कोई ऐसा ज़माना भी था, जब मैं गा नहीं सकता था।

गुणी गायकों के लिए उस ज़माने में ठाकुरबाड़ी के दरवाज़े हमेशा खुले रहते थे, चाहे वे जान-पहचान के हों, या न हों। रवि कुछ बड़े हुए, तो एक बड़े उस्ताद आकर वहीं टिक गए—यदु भट्ट। उनसे एक भारी गलती हो गई, उन्हें ज़िद चढ़ गई कि 'रवि को गाना सिखाकर ही मानूंगा।' उसी गलती का परिणाम यह हुआ कि स्कूल से भागे हुए तथा परम्परागत शिक्षा से ऊबे हुए उस लड़के ने फिर कभी शास्त्रीय संगीत की विधिपूर्वक चर्चा नहीं की।

रवि संगीत नहीं सीखना चाहते थे। उन्हें संगीत तो पारिवारिक वातावरण से मिल ही गया था। संगीत की प्राप्ति में उनके सच्चे गुरु थे रायपुर के श्री कण्ठसिंह। महर्षि के यह भक्त अक्सर जोड़ासांको के घर में जमे रहते थे। यह धर्मप्राण, शिशु-स्वभाववाले वृद्ध गाने में एकदम मस्त हो जाते थे। वह संगीत सिखाते नहीं थे, संगीत को लाकर हाथ में थमा देते थे। जब वह आनन्द को अपने अन्दर बांध नहीं पाते थे, तब खड़े हो जाते, नाच-नाचकर

सितार बजाने लगते। उनकी बड़ी-बड़ी आंखें जगमगा उठतीं। वह गा उठते :

मैं छोड़ेउं ब्रज की बांसुरी...

रवि से उनके साथ-साथ गाए बिना रहा नहीं जाता था ।

रवि की कविता के एक उत्साही श्रोता थे, श्रीकण्ठ बाबू। एक दिन वह जोश के साथ रवि की लिखी हुई एक ईश्वर-वन्दना लेकर महर्षि को सुनाने गए। यथारीति उस कविता में संसार के दुख-कष्ट का काफी उल्लेख था। दस साल का लड़का भवयंत्रणा में अभी से कातर हो गया है—पयार छन्द की कविता में इसकी सूचना पाकर महर्षि खूब हंसे।

किन्तु महर्षि बालक रवि की आवाज़ में ब्रह्म-संगीत सुनना बहुत पसन्द करते थे। वह कहते :

—रवि हमारे बंगाल की बुलबुल है।

यज्ञोपवीत

रवि की उम्र जब ग्यारह वर्ष की हुई, तब महर्षि ने सोमेन्द्र और भांजे सत्य प्रसाद के साथ-साथ रवि का भी यज्ञोपवीत-संस्कार करा दिया। अनुष्ठान प्राचीन वैदिक नियमों के अनुसार हुआ। तिमंजिले के एक कमरे में तीन सिर मुड़े ब्रह्मचारी तीन दिन के लिए कैद रखे गए। मामला मज़ेदार रहा। परस्पर एक-दूसरे का सफाचट सिर देखकर हंसते-हंसते वे लोट-पोट होते रहे—एक-दूसरे के कुंडलों की खींचातानी करते रहे। कमरे के कोने में एक तबला पड़ा था। जब तिमंजिले के बरामदे से श्याम या दूसरे नौकर को वे गुज़रते देखते, तो तबले पर ज़ोर-ज़ोर से थापें देने लगते :

—धांय...धांय, धप्...धप्...

आंख से आंख मिलते ही नौकर लोग, कहीं हंसकर अपराधी न हो जाएं, इस डर से सिर झुकाकर भागकर निकलते और तीनों ब्रह्मचारी खिलखिला कर हंस पड़ते। उन तीन दिनों की तरह ही एक खास आनन्द की चीज़ थी, घर की नई बहू रानी कादम्बरी देवी के हाथ का बना हुआ हविष्यान्न। बिना मसालों का वह भोजन, सिर्फ बनाने वाली के गुण से ही, अमृत-सा लगता था। यज्ञोपवीत संस्कार का जो गम्भीर पक्ष था, वह था गायत्री का जप करना। उसमें रवि कुछ प्रवृत्त हुए। मन्त्र के सभी अर्थ या भाव समझने की उम्र नहीं थी, फिर भी कभी-कभी पढ़ाई के कमरे के एक कोने में बैठकर उस मन्त्र को जपते समय, उनकी दोनों आंखों से आंसू बहने लगते। बचपन में मन की गहराइयों में बहुत-कुछ ऐसा होता है, जो बुद्धि या विचार से समझ में नहीं आ सकता।

सफाचट सिर लेकर फिरंगियों के स्कूल में कैसे जाया जाए, यह भी एक परेशानी खड़ी हुई। बालक के लिए यह भारी समस्या थी। एक दिन इस समस्या का हल भी मिल गया।

महर्षि बोले—मैं अपनी हिमालय-यात्रा में रवि को साथ ले जाऊंगा। खुशी के मारे रवि का मन नाच उठा। अब लगा कि बाहर की दुनिया से उनका वास्तविक परिचय होगा। कुछ दिन पहले डेंगू बुखार की छूत से बचने के लिए ठाकुर परिवार के तमाम लोगों के साथ पेनेटि के एक बागवाले मकान में रवि भी चले गए थे। पर वहां भी घर से निकलने का हुक्म नहीं था। मकान के ही अहाते में एक अमरूद के पेड़ के नीचे बैठे-बैठे गंगा की ओर निहारते हुए उनका दिन बीत जाता था।

कहां पेनेटि और कहां हिमालय! वह भी दो-चार दिन की बात नहीं थी, चार-पांच महीने बाहर रहना था। इसका एक और विशेष आकर्षण था, पिताजी का साथ। अभी तक रवि महर्षि को दूर से ही देख पाते थे। रवि के बचपन में वह कभी-कभार ही जोड़ासांको आते थे। उनका अधिक समय बाहर ही बीतता था। पर चिट्ठी-पत्री से बाप-बेटे का एक सम्बन्ध बन गया था।

यह भी एक मजेदार कहानी है। उस समय रवि की उम्र कोई आठ-दस साल की थी। कलकत्ता में यह अफवाह फैली कि हिमालय और तिब्बत पार करके रूसी भारत पर आक्रमण करेंगे। खुद महर्षि उस समय हिमालय पर थे। शारदा देवी कुछ चिन्तित हो गईं। बड़े लड़कों ने कोई परवाह न की, यह देखकर उन्होंने एक दिन रवि को बुलाकर कहा—पिताजी को एक पत्र में रूसियों की यह खबर लिख दो।

माताजी की चिन्ता की सूचना पिताजी को देते हुए रवि का पहला पत्र पहुंचा।

यथासमय जवाब भी मिला—डरने की कोई बात नहीं। रूसी अगर आ ही जाएं, तो मैं उन्हें भगा दूंगा।

उत्तर पाकर रवि का साहस बढ़ गया। उसके बाद वह लगभग रोज़ ही पिताजी को बिना टिकट और बिना पते की चिट्ठियां लिखने लगे। वे चिट्ठियां पिताजी तक पहुंचती हैं या नहीं, यह सिर्फ खजांची महाशय ही जानते थे। दूर से पत्र लिखना और बात है और दूर के आदमी को निकट पाना और। रवि ने यह देखा कि पिताजी के घर आने पर सभी सम्भ्रमित और सहमे हुए दिखाई पड़ते थे। बूढ़े-बच्चे, सभी मालिक से सहमे रहते थे। वह हिमालय के सबसे ऊंचे शिखर-जैसे थे, उनके पास कोई पहुंच ही नहीं पाता था। उन्होंने ही एक दिन रवि को बुलाकर पूछा—मेरे साथ हिमालय चलना चाहते हो?

रवि के मन में आया कि खूब चिल्लाकर कहे—चऽलऽनाऽ चाऽहऽताऽ हूंऽ ...।

बोलपुर-शान्तिनिकेतन

महर्षि के आदेश से रवि के लिए नई पोशाक तैयार हुई। सफाचट सिर पर ज़री की कामदार मखमली टोपी। तय हुआ कि वे कुछ दिन बोलपुर में रुकेंगे। महर्षि ने कोई दस-बारह साल पहले बोलपुर के पास ही तपस्या करने लायक एक निर्जन स्थान पर थोड़ी-सी ज़मीन

खरीदकर एक एकतल्ला मकान बनाया था और उसका नाम शान्तिनिकेतन रखा था।

सत्यप्रसाद कुछ रोज़ पहले अपने माता-पिता के साथ बोलपुर की सैर करके लौटे थे। कुछ सच और कुछ कल्पना मिलाकर उन्होंने अपनी यात्रा का विस्तृत विवरण रवि को सुनाया था। उन्होंने यह भी बताया था कि रेलगाड़ी पर चढ़ना बहुत खतरनाक काम है—एक बार पांव फिसला कि बिल्कुल आलू दम बने! स्टेशन पहुंचने पर रवि के मन में कुछ भय तो आ गया, पर गाड़ी पर आसानी से चढ़ गए। गाड़ी बिना किसी खतरे के दौड़ चली। विपत्ति की कोई सम्भावना न देखकर वह मन-ही-मन कुछ निराश ही हुए।

रवि खिड़की के पास बैठकर देखते रहे—चित्रों की तरह शान्त छाया से घिरे गांव और क्षितिज तक फैले हुए धान के खेत। शाम को गाड़ी बोलपुर पहुंची। शान्तिनिकेतन की कोठी और उसके आसपास के घाट-बाट के बारे में सत्य ने उन्हें ढेर सारी काल्पनिक बातें बता रखी थीं। पालकी पर सवार होकर रवि ने आंखें मूंद लीं। उन्हें यह डर लग रहा था कि शाम के धुंधलके में सत्यप्रसाद द्वारा वर्णित वे अद्भुत चीजें दिखाई न पड़ जाएं। अगर अभी से देख लिया, तो दिन में उसे जी-भर देखने का आनन्द कहीं घट न जाए।

दूसरे दिन तड़के उठने पर रवि को शान्तिनिकेतन का जो रूप दिखाई पड़ा, उसके साथ सत्यप्रसाद के वर्णन का मेल नाममात्र का ही था। उन्हें जो दिखाई पड़ा, उसी से उनका मन भर गया। मैदान दूर जाकर नीले आकाश में मिल गया था। मैदान के बीच होकर पगडंडी थी, दूर पश्चिम की ओर लाल बजरी की खदान और उत्तर में सन्तरियों की तरह कतार-की-कतार खड़े ताड़ के पेड़।

कोठी के पूरब की ओर पहाड़-सा एक मिट्टी का टीला था। तड़के महर्षि इसी की एक वेदी पर बैठकर उपासना करते थे। सूर्योदय देखकर उनके लौट आने के बाद रवि उनके पास थोड़ी देर अंग्रेज़ी और संस्कृत पढ़ते थे। उसके बाद छुट्टी-ही-छुट्टी। नौकरों का शासन नहीं, संझले भइया का रूटीन नहीं, मैदान के बीच लक्ष्मण-रेखा का भी कोई चिह्न नहीं।

फागुन का महीना। सर्दी तो खत्म थी, पर पूरी तरह नहीं। सवेरे की मीठी धूप में रवि घर से निकल पड़ते। घूमने की जगह थी खदान। वहां से वह जेब भरकर अनेक आकारों की रोड़ियां चुन लाते। उन्हें देखकर पिताजी बहुत खुश होते, कहते :

—कितनी सुन्दर हैं। तुमने कहां पाया?

—ऐसी बहुतेरी हैं। मैं तो हज़ारों ला सकता हूं।

—वाह, तब तो बहुत अच्छा रहेगा। तुम इन्हीं पत्थरों से मेरा टीला सजा दो।

खदान के पास एक जगह गढ़ा-सा हो गया था। वहां पानी रुक जाता था, अतः पानी ऊपर से बहने लगा था। एक दिन उसे देखकर बालक ने आकर पिता से कहा—बहुत ही सुन्दर पानी का सोता मिला है। अगर वहीं से हमारे लिए पीने का पानी लाया जाए तो?

—ठीक तो है, बहुत अच्छा रहेगा।

उसी दिन से वहां का पानी मंगाने का इन्तज़ाम हो गया।

लड़के में ज़िम्मेदारी की भावना पैदा करने के लिए महर्षि उन्हें कई तरह के काम देते थे। भगवद्‌गीता से रोज़ कुछ श्लोक नकल करने पड़ते थे। सन्ध्या को खुले आकाश के नीचे बैठकर महर्षि उन्हें ग्रह-नक्षत्रों की बातें बताते। उनकी बताई हुई बातें दूसरे रोज़ लिखकर उन्हें दिखानी पड़तीं। सोने की कीमती घड़ी में रोज़ चाबी देने की ज़िम्मेदारी भी रवि पर ही थी। लाड़-प्यार की अतिशयता के फलस्वरूप घड़ी बिगड़ गई। उसे मरम्मत के लिए कलकत्ता भेजना पड़ा। महर्षि रोज़ लड़के के पास दो-चार आने पैसे रख देते और सुबह जब दोनों घूमने जाते, तो रास्ते में भिखारी को देखकर कहते—इसे कुछ पैसे दे दो।

सन्ध्या होने पर हिसाब देने के लिए जाते, तो हिसाब नहीं मिलता। एक दिन तो जमा का अंक कुछ बढ़ गया। महर्षि हंसकर बोले—सोचता हूं, तुम्हें अपना खज़ांची बनाऊं, तुम्हारे हाथ में रहने से मेरे रुपये बढ़ जाएंगे।

अब तो रवि कवि हो गए थे। वह फटी नीली कॉपी जा चुकी थी। इस बार एक चमकीली जिल्ददार डायरी साथ लाए थे। कविता लिखने के लिए अब कवि के लायक वातावरण की आवश्यकता पड़ी। कोठी के बगीचे के पश्चिमी कोने में नारियल के एक नये पेड़ के नीचे, दोपहर की धूप में कठिन भूमि पर पांव फैलाकर बालक कवि ने 'पृथ्वीराज-पराजय' नामक एक वीर-रस का काव्य रच डाला।

हिमालय

बोलपुर से यात्रा शुरू होने पर बीच-बीच में यत्र-तत्र रुकते हुए वे मार्च के मध्य में अमृतसर पहुंचे। रास्ते में एक बड़े स्टेशन पर रवि के आधे टिकट के विषय में एक टिकट-कलेक्टर को कुछ सन्देह हो गया। इतना लम्बा छरहरा कद, सिर पर मखमल की टोपी—यह लड़का बारह साल से कम उम्र का हो ही नहीं सकता। टिकट-कलेक्टर को खुद कुछ कहने का साहस नहीं हुआ, वह स्टेशन-मास्टर को साथ ले आया। फिरंगी मास्टर ने हाफ टिकट को देखकर महर्षि से प्रश्न किया।

—क्या इस लड़के की उम्र बारह साल से अधिक नहीं है ?

—नहीं।

—इसके लिए आपको पूरा किराया देना पड़ेगा।

महर्षि की दोनों आंखें भभक उठीं। उन्होंने तुरंत संदूक खोलकर रुपये निकाल दिए। किराए का रुपया काटकर वह जब बाकी रुपये लौटाने आया, तो उन्होंने वे रुपये फेंक दिए। रुपये प्लेटफार्म पर झनझनाकर बिखर गए। स्टेशन-मास्टर शर्म से सिर झुकाकर वहां से चला गया।

अमृतसर में रहते समय अक्सर सवेरे बाप-बेटा पैदल तालाब से घिरे हुए सिखों के 'दरबार साहिब' तक जाते थे। उपासकों के बीच बैठकर महर्षि बीच-बीच में उनके भजन

गाते थे। इस ऋषि-जैसे बंगाली के मुंह से सिख भक्त अपनी भाषा के भजन-गीत सुनकर अवाक रह जाते और बेहद प्रसन्न होते। वे महर्षि का बहुत आदर करते और 'दरबार साहिब' से लौटते समय रवि के हाथ में हलवा और मिश्री का 'परशाद' भर देते।



अमृतसर का दरबार साहिब

महीना-भर अमृतसर में रहने के बाद वे डलहौजी पहुंचे।

बक्रोटा के सबसे ऊंचे शिखर पर, एक बंगले में, उन लोगों ने डेरा डाला। रवि ने पहली बार पर्वत देखा। बोलपुर के शान्तिनिकेतन में उन्होंने लिलीपुटी पहाड़, झरना, तथा नदी से खेल खेला था, यहां नगाधिराज हिमालय-पर्वत से आंखें चार हुईं। अप्रैल का महीना था, पर सर्दी काफी थी। जगह-जगह बर्फ अभी गली भी नहीं थी। भोर की उपासना खत्म होने पर पिता-पुत्र घूमने जाते। पिता के साथ कदम मिलाना बालक रवि के लिए बहुत कठिन था। कई बड़े भी हार मान जाते थे, तो फिर बालक का क्या कहना! बीच में रुककर रवि पगडंडी की राह से बंगले पर लौट आते।

पिता के लौटने पर करीब एक घंटा पढ़ाई होती—अंग्रेजी और संस्कृत। महर्षि का संस्कृत पढ़ाने का ढंग बड़ा अच्छा था। उपक्रमणिका के शब्द-रूप, धातु-रूप याद करने के साथ-साथ वह रवि को मूल वाल्मीकि-रामायण का कुछ अंश भी पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे। फिर रवि को संस्कृत रचना भी सीखनी पड़ी थी।

सवेरे पढ़ाई खत्म होने पर बर्फ गलने से बने ठंडे पानी में स्नान और फिर कटोरा-भर गरम दूध पीना पड़ता था। इससे छुटकारा नहीं था।

दोपहर को लोहे की बल्लम-जैसी लाठी लेकर रवि मनमाने पहाड़ और जंगल में घूमते थे। महर्षि बाधा तो देते ही नहीं थे, कोई दुश्चिन्ता भी प्रकट नहीं करते थे। उन्हें मालूम था कि बहुत निगरानी रखने पर लड़के का विकास अच्छी तरह नहीं हो पाता। यदि शरीर और मन मज़बूत हो, तो बचपन से ही अपने पांवों पर खड़े होने की आदत पड़ जाना अच्छा होता है। बंगले के नीचे एक बड़ा-सा जंगल था। उसका एक पेड़ जैसे विराट दैत्य हो। ऐसे सन्नाटे और ठण्डे अंधकार में रवि की देह सिहर-सी उठती, पर साथ ही, कुछ अच्छा भी लगता।



डलहौजी का एक दृश्य

शाम को महर्षि अपने बेटे के साथ बंगले के बाहर कुर्सी लगवाकर बैठ जाते। निर्मल आकाश में नक्षत्र कुछ अधिक जगमगाते-से दीख पड़ते। लड़के को वह ग्रह-नक्षत्र पहचनवा देते थे और ज्योतिष के विषय में चर्चा करते थे। फिर दोनों व्यक्ति उपासना में बैठ जाते—शीशे से घिरे हुए बरामदे में। रवि एक के बाद एक ब्रह्म-संगीत गाते जाते और महर्षि सिर झुका कर, दोनों हाथ जोड़े स्तब्ध बैठे रहते।

इस तरह कई महीने बिताने के बाद महर्षि ने अपने अनुचर किशोरी चाटुर्ज्या के साथ रवि को कलकत्ता भेज दिया। लौटते समय पूरा टिकट ही लेना पड़ा। मई महीने में रवि का बारहवां साल पूरा हो गया। इन कुछ महीनों में सिर पर कुछ बाल भी निकल आए थे। तन्दुरुस्ती काफी अच्छी हो जाने के कारण शरीर पुष्ट और गाल सेब की तरह लाल हो गए थे। रास्ते में अंग्रेज़ यात्री इस सुन्दर और स्वस्थ बालक को बिना प्यार-दुलार किए नहीं छोड़ते थे।

वापसी

पिता के साथ चार-पांच महीने बाहर बिताकर रवि घर लौटे, तो कुछ और हो गए थे। उनमें अब वह शर्मीली घरघुसू प्रवृत्ति नहीं रह गई थी। नौकरों के शासन से भी वह मुक्त हो चुके थे। अब अन्दर महल में माताजी के खास दरबार में रवि के आने-जाने पर भी कोई रोक-टोक नहीं थी। नई भाभी की गुड़िया के ब्याह के उपलक्ष्य में कई बार निमन्त्रण भी आने लगे। सभी इस बालक यात्री के मुंह से बड़े मालिक के बारे में तथा हिमालय-भ्रमण के वर्णन सुनने को उत्सुक रहते थे। माताजी के दरबार में अब रवि कहानी सुनाते थे, गाना सुनाते थे, ग्रह-नक्षत्रों की चर्चा करके सबको ताज्जुब में डाल देते थे। एक दिन उनके मुंह से वाल्मीकि-रामायण की आवृत्ति सुनकर माताजी खुशी से फूली न समाईं; सबको बुला-बुलाकर कहने लगीं—रवि संस्कृत-रामायण की कैसी आवृत्ति करता है !

घर में आदर बढ़ने के साथ-साथ स्कूल जाने का आग्रह घटता गया। बंगाल अकादमी में अब रवि नहीं जाना चाहते थे। मजबूर होकर बड़े भैया द्विजेन्द्रनाथ ने उन्हें सेंट ज़ेवियर्स स्कूल में भर्ती करा दिया।

सेंट ज़ेवियर्स की एकमात्र मधुर स्मृति, जो आखिर तक रवि को याद रही—फादर द पेनेरेन्दा की याद थी। वह स्पेनिश थे, इसलिए उनका अंग्रेज़ी उच्चारण अच्छा नहीं था। अंग्रेज़ लड़के इस पर उनका मज़ाक उड़ाते थे। लड़कों के इस आचरण को वह मुस्कराकर सहन कर लेते। उन्हें देखकर लगता कि पढ़ाना उनके लिए मास्टरी करना नहीं, बल्कि उपासना के समान था। एक दिन उन्होंने कक्षा में कुछ लिखने के लिए दिया। कुछ देर बाद उन्होंने देखा कि रवि की कलम नहीं चल रही है। उन्होंने पीछे की ओर आकर सस्नेह रवि की पीठ पर हाथ रखकर कहा—टागोर, क्या आज तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है ?

पर सेंट ज़ेवियर्स में भी रवि का मन नहीं लगा। बड़े भाइयों ने कई बार कोशिश करके छोड़ दिया। बड़ी बहन सौदामिनी ने खेद से कहा--हम लोगों को बड़ी उम्मीद थी कि रवि आदमी बनेगा, पर...

मजबूरन स्कूल से नाम कटवाकर घर पर ही पढ़ाई का इन्तज़ाम हुआ। शिक्षकों में से एक उन्हें नए ढंग से पढ़ाने लगे। रवि की रुचि साहित्य में देखकर वह मूल संस्कृत में कालिदास की कृतियां 'कुमारसम्भव' पढ़ाते और साथ-साथ बंगला में उसकी व्याख्या करते चलते। साथ ही रोज़ शेक्सपीयर का 'मैकबेथ' भी समझाते और जब तक रवि कविता में उसका अनुवाद न कर देते, तब तक उन्हें कमरे में कैद रखते। इस प्रकार, जब पूरे नाटक का अनुवाद हो चुका, तो छात्र को प्रोत्साहित करने के लिए मास्टरजी उन्हें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के पास ले गए।

अनुवाद सुनकर विद्यासागर महाशय बहुत प्रसन्न हुए और अनुवादक की बड़ी प्रशंसा की।

माताजी की मृत्यु

जब रवि की माताजी की मृत्यु हुई, तब उनकी उम्र करीब चौदह साल थी। सवेरे आंख खुलने पर उन्होंने सुना कि माताजी चल बसीं। फटी आंखों से बाहर आकर बरामदे में देखा कि माताजी पलंग पर सोई हैं और महर्षि खड़े-खड़े फूल और चन्दन से शय्या सजवा रहे हैं। चारों ओर फूलों का ढेर और बीच में जैसे माताजी सोई हों।

जब लोग मृत देह लेकर सदर दरवाज़ा पार कर गए, तभी रवि की समझ में आया कि माताजी अब इस घर में नहीं लौटेंगी। उनका हृदय हाहाकार कर उठा। भाइयों के पीछे-पीछे वह भी श्मशान-घाट गए। जब दोपहर को सब लौट आए, तो गली के मोड़ पर से ही रवि ने देखा कि तिमंजिले के बरामदे में महर्षि स्तब्ध होकर उपासना में लीन हैं।

ज्योतिरिन्द्रनाथ की पत्नी कादम्बरी देवी (नई बहूरानी) ने मातृहीन बालक की ज़िम्मेदारी ली।

माताजी की मृत्यु के बाद रवि के स्कूल जाने का प्रश्न दबकर रह गया, पर पढ़ाई भी बन्द हो गई। उस जमाने में बंगला में जो भी पुस्तकें या पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होतीं, उनमें से अधिकांश ठाकुरबाड़ी आती थीं। जो भी पाठ्य-अपाठ्य पुस्तक या पत्रिका रवि को कहीं से मिल जाती, वह उसे पढ़ते। खुलकर पढ़ने की सुविधा न होती, तो वह छिपकर पढ़ते। किसी-किसी दिन तो रात हो जाती, एक-दो बज जाते, सारे मुहल्ले में सन्नाटा छा जाता, दीवट पर एक बत्तीवाले दीये की टिमटिमाती रोशनी में मेज़ पर झुककर रवि पढ़ते रहते। कभी-कभी तो गहरी रात में 'बोल हरि, बोल हरि', 'रामनाम सत्य है'—सुनाई पड़ता था। अंदर महल से बड़ी दीदी अचानक आ जातीं और ज़बर्दस्ती किताब छीनकर रवि को बिस्तर पर लिटा देतीं। पढ़ाई-लिखाई के कैदखाने से मुक्ति पाकर रवि की पढ़ाई कई गुना बढ़ गई।

संजीवनी सभा

माताजी की मृत्यु के करीब एक महीने पहले कवि के रूप में रवि सर्वप्रथम प्रकाश में आए थे। 1875 ईसवी की 11 फरवरी को हिन्दू-मेला के अवसर पर, एक पेड़ के नीचे खड़े होकर, रवि ने स्वरचित कविता पढ़कर सुनाई :

> **हिमाद्रि शिखरे शिलासनपरि**
> **गान व्यास-ऋषि वीणा हाते करि—**
> **कांपाये पर्वतशिखर कानन,**
> **कांपाये नीहार-शीतल वाय !...**आदि आदि।

यानी, हिमाद्रि शिखर पर शिलासन पर बैठे, ऋषि व्यास वीणा हाथ में लेकर गाते हैं, कंपाकर पर्वत शिखर को, कानन को, कंपाकर नीहार शीतल वायु को।

'अमृतबाज़ार पत्रिका' ने 'हिन्दू-मेला का उपहार' नाम से इस कविता का प्रचार किया था।

जब रवि छह वर्ष के थे, तब ठाकुरबाड़ी की ओर से इस हिंदू-मेला की प्रतिष्ठा हुई थी। स्वदेशी भावधारा के प्रचार के लिए ही यह मेला शुरू किया गया था। भारत में राष्ट्रीयता की भावना जगाने के शायद प्रथम संगठित प्रयासों में से यह एक था।

महर्षि के पदांक का अनुसरण करते हुए ठाकुरबाड़ी के सब लोगों में भारतीय धर्म, साहित्य, संगीत, शिल्प, आदि के प्रति वास्तविक अनुराग पैदा हो गया था। केवल पोशाक या आचरण से ही नहीं, बल्कि हृदय से भी रवीन्द्रनाथ के सभी बड़े भाई देशप्रेमी थे और इस देशप्रेम में अगुआ थे नतुन दादा ज्योतिरिन्द्रनाथ। शहर की एक गली के खंडहर में राजनारायण बसु और ज्योतिरिन्द्रनाथ ने मिलकर 'संजीवनी सभा' नाम से एक संस्था बनाई। सभा का अपना सांकेतिक नाम था 'हाञ्चु पामु हाफ'। सम्भवतः अंग्रेज़ी राज्य का उच्छेद सभा का प्रथम उद्देश्य था। साथ ही, स्वदेशी शिल्पों की पुनः प्रतिष्ठा भी इसका उद्देश्य था। बन्द दरवाजे के भीतर अंधेरे कमरे में चुपचाप मुर्दे की खोपड़ी की आंखों के कोटर में बत्ती जलाकर ऋकमन्त्र उच्चारित करके सभा की कार्यवाही का आरम्भ होता था। सभा के अनुष्ठानों में इस प्रकार की गई रोमांचकारी, रहस्यपूर्ण करतूतें होती थीं, जिन्हें सुनकर बुज़ुर्ग लोग बचपना ही कहते। वृद्ध राजनारायण वसु जैसे विद्वान व्यक्ति इस सभा के सभापति थे और रवि-जैसे बालक इसके सदस्य तथा सभा कवि। सबके साथ उत्साह से गला मिलाकर ऊंची आवाज़ से राजनारायण बाबू उस सभा का राष्ट्रीय गीत गाते थे :

एक सूत्रे बांधियाछि सहस्रटि मन,
एक कार्ये संपियाछि सहस्र जीवन॥

यानी, एक सूत्र में सहस्रों मनों को गूंथ दिया है और एक कार्य में ही सहस्रों जीवन सौंप दिए हैं।

यह किशोर रवीन्द्रनाथ की ही रचना थी।

पारिवारिक वातावरण

जहां तक उस ज़माने की ठाकुरबाड़ी के वातावरण का प्रसंग है, धार्मिक भावना, साहित्य और संगीत के प्रति वास्तविक अनुराग—यही परिवार का जागृत और जीवन्त वाता-

वरण था। बड़े भाइयों में सभी एक-से-एक गुणी थे। उस ज़माने के श्रेष्ठ गुणी और विद्वान हमेशा उन लोगों के पास आते-जाते रहते। सारे परिवार में भाई-बहन भी अनेक थे। रवि इनमें सबसे छोटे थे।

बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ रवि से इक्कीस साल बड़े थे। बड़े भैया अजीब किस्म के आदमी थे—एक तरफ तो पूरे भोलेनाथ और दूसरी ओर कवि, दार्शनिक और गणितज्ञ। वह अच्छे तैराक भी थे और आसानी से गंगा पार कर जाते थे। उनकी देखा-देखी घर के और लड़कों ने भी बचपन से ही तैरना सीख लिया था। रवि ने भी तैरना सीखा। बड़े होने पर उन्होंने पद्मा पार की थी। बड़े दादा के उच्च हास से वातावरण उत्फुल्ल बना रहता। रवि की उम्र जब चौदह वर्ष की थी, तब बड़े दादा नए-नए छन्दों में कविता करने में मस्त रहते थे। 'स्वप्न-प्रयाण' उसी समय लिखा जा रहा था। वह जैसे-जैसे लिखते जाते, वैसे-वैसे घर के लोगों को बुलाकर सुनाते जाते।

इस काव्य में उन्होंने अपना परिचय इस तरह दिया था :

भाते येथा सत्य हेममाते येथा वीर
गुण ज्योति हरे येथा मनेर तिमिर,
नव शोभा धरे येथा सोम आर रवि
सेइ देव निकेतन आलोकरे कवि।

यानी, जहां सत्य, हेम, वीर चमकते हैं, गुण और ज्योति जहां मन के अंधकार को हरते हैं, जहां सोम और रवि नई शोभा धारण किए हुए हैं, उसी देवनिकेतन को कवि आलोकित करता है।

इस कविता में पारिवारिक नाम मौजूद हैं और उनका परिचय इशारे से दिया गया है।

मंझले भाई सत्येन्द्रनाथ रवि से 19 वर्ष बड़े थे। रवि जब शिशु-मात्र थे, तब वह इंग्लैंड से आई० सी० एस० पास करके लौटे थे। वह अंग्रेजी युग के प्रथम भारतीय सिविलियन थे। बम्बई में जब पहली बार अपने कर्मस्थल पर गए, तो वह अपने घरवालों तथा मुहल्लेवालों, सभी को चौंकाते हुए खुली फिटिन में अपनी पत्नी ज्ञानदा नन्दिनी को साथ ले गए। ठाकुर-बाड़ी के अन्तःपुर में सामाजिक स्वतन्त्रता की नई आबोहवा सत्येन्द्रनाथ ही लाए थे।

हेमेन्द्रनाथ का उल्लेख पहले आ चुका है। वह थोड़े दिन मेडिकल कॉलेज में पढ़े थे। हेमेन्द्रनाथ से छोटे थे, वीरेन्द्र। गुणेन्द्र रवि के चचेरे भाई थे, उम्र में तेरह साल बड़े। इनकी सौन्दर्य-अनुभूति जैसे प्रबल थी, वैसे ही वह गुणग्राही भी थे। नवीनतम कवि रवीन्द्रनाथ की नीली कॉपी की नई-नई कविताओं के वह रसिक-कद्रदान थे। उन्होंने ही रवि को भारत का इतिहास कहानी के रूप में सुनाया था। वही गुणेन्द्रनाथ, शिल्पगुरु अवनीन्द्रनाथ और गगनेन्द्रनाथ के पिता थे।

नतुन दादा

ज्योतिरिन्द्रनाथ के लिए नतुन दादा या नए दादा नाम ही सार्थक था। उम्र में बारह वर्ष बड़े थे, तो क्या हुआ। नतुन दादा रवि के इतने पास थे, मानो वह उनके हम उम्र ही हों। बड़े और छोटे के बीच की पुराने ढंग की दूरी को उन्होंने एकदम समाप्त कर दिया था।

संझले दादा रवि को अनेक विद्याओं के रूटीन में बांधकर पालना चाहते थे, अगर रवि कोई साधारण लड़का होता, तो शायद यही शिक्षा उसके लिए यथेष्ट होती, पर वह ठहरे असाधारण। आजाद रहकर स्वेच्छा से सीखे बिना उन्हें शिक्षित करना शायद सम्भव नहीं था।

ज्योतिरिन्द्र ने ही रवि के लिए स्वतन्त्र शिक्षा की राह खोल दी थी, क्योंकि अपनी प्रकृति तथा तजुर्बे से ही उन्होंने भाई की प्रकृति और प्रतिभा भांप ली थी। नाम से ही नहीं, मन से भी वह नूतन थे। नई बहूरानी कादम्बरी देवी भी उनकी योग्य सहधर्मिणी थीं। ज्ञानदा नन्दिनी ने पर्दा तो छोड़ ही दिया, साथ वह पति की प्रेरणा से पति के साथ घोड़े पर सवार होकर कलकत्ता के मैदान में हवा खाने भी जाती थीं। किशोर रवीन्द्र के चिन्तन और चरित्र पर इन दोनों का जो स्थायी प्रभाव पड़ा था, वह अद्वितीय था।

शारदा देवी की मृत्यु के बाद महर्षि जोड़ासांको के मकान में कम ही रहते थे। अन्तिम दिनों में वह पार्क स्ट्रीट के एक घर में रहते थे। बड़ी लड़की सौदामिनी देवी उनकी देखभाल करती थीं। महर्षि का तिमंजिले का कमरा खाली होने पर बाहर महल के उसी कमरे में ज्योतिरिन्द्रनाथ अन्दर महल छोड़कर सपत्नीक रहने लगे। पहले कभी ऐसा नहीं हुआ था। वहीं पास के एक कमरे में रवि के रहने का भी इन्तजाम हुआ।

तिमंजिले के एक कमरे में प्यानो रखा हुआ था। ज्योतिरिन्द्रनाथ प्यानो पर अंगुलियां चलाकर नए-नए ढंग के सुर बनाते। रवि उनके पास खड़े रहते। रवि का काम था, इन दौड़ते हुए सुरों के साथ शब्द बांधकर गीत बनाना। निर्झर की तरह अजस्र धाराओं से सुर प्रवाहित होता रहता।

केवल संगीत में ही नहीं, और क्षेत्रों में भी रवि अबाध शक्ति से बढ़ सके, इसकी सारी सुविधाएं नतुन दादा की कृपा से उन्हें प्राप्त थीं। कभी उन्होंने रवि का मुंह नहीं बन्द किया। वह उन्हें तमाम बहसों में भी शामिल होने देते थे। ज्योतिरिन्द्रनाथ की स्मृति कथा से इस सम्बन्ध में एक उल्लेख किया जा सकता है।

ज्योतिरिन्द्रनाथ उस समय राजपूत वीरांगनाओं के जौहर-व्रत पर एक नाटक लिख रहे थे—'सरोजिनी'। इस समय रवि करीब चौदह वर्ष के थे। वह घर में ही पंडित रामसर्वस्व से संस्कृत पढ़ते थे। प्रेस से नाटक का प्रूफ आ गया था। ज्योतिरिन्द्रनाथ ने पण्डितजी को कॉपी लेकर जोर से पढ़ने को दे दी थी और उसे सुनकर स्वयं, प्रूफ संशोधन करते जा रहे

थे। बगल के कमरे में, रवि पढ़ाई बन्द करके सुन रहे थे। जहां पर राजपूत रमणियां ज्वलन्त चिता में प्रवेश करने जा रही थीं, संवाद में वहां का वर्णन था। सुनकर उनका मन खिन्न हो उठा। उसके बाद जो हुआ, उसे ज्योतिरिन्द्रनाथ के शब्दों में सुनिए :

"किशोर रवि एकदम हमारे कमरे में आ पहुंचे। उन्होंने कहा—कविता के बिना नाटक के इस अंश में कभी शक्ति आ ही नहीं सकती। मैं उनके प्रस्ताव की उपेक्षा नहीं कर सका। पर समय कहां था? बहुत थोड़े समय में ही रवि ने 'ज्वल-ज्वल चिता द्विगुण-द्विगुण' नाम का गीत तैयार करके हम लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया।"

यह गीत ज्योतिरिन्द्रनाथ के 'सरोजिनी' नाटक में शामिल होकर इस घटना का प्रमाण बन गया।

नतुन दादा जहां-जहां जाते, रवि को साथ ले जाते। एक बार जमींदारी के काम से शिलाईदह गए। वहां रवि के लिए एक तेज टट्टू लिया। रोज तीसरे पहर ऊबड़-खाबड़ मैदान के बीच घोड़े पर सवार होकर रवि को दौड़ लगानी पड़ती थी। एक दिन वह रवि को हाथी पर चढ़ाकर, बाघ का शिकार करने के लिए अपने साथ ले गए थे।

शिलाईदह रहते समय रवि को शौक हुआ कि स्याही के बदले रंगीन फूलों की पंखुड़ियां निचोड़कर उनके रस से कविता लिखेंगे। फूलों को पीसकर किस तरह से रस निचोड़ा जाएगा, इसके लिए एक मशीन का नक्शा भी बन गया। रवि ने जब अपना इरादा नतुन दादा को बताया, तो वह शायद मन-ही-मन कुछ हंसे, पर उसी समय बढ़ई-मिस्त्री को बुलाकर रवि की योजना के अनुसार मशीन तैयार करवा दी। फूलों की इस घानी से ज़रूरत के अनुसार रस निकालना सम्भव नहीं हुआ, पर यह ग़लती नतुन दादा की नहीं थी।

नई बहूरानी

रवि के प्रति नई बहूरानी का व्यवहार कुछ भिन्न प्रकार का था। उम्र में वह रवि से केवल दो साल बड़ी थीं। पर उन दिनों लड़कियों की शादी बहुत कम उम्र में होती थी और उतनी ही उम्र में वे घर-गृहस्थी में मंज जाती थीं। कादम्बरी देवी जब नई बहू बनकर ठाकुर परिवार में आईं, तो उस समय पहले-पहल उनकी गुड़ियों की महफिल में छोटे देवरजी को बुलावा आ जाता था। फिर धीरे-धीरे तरक्की होती रही। भाभी के अमावट पर पहरा देने के काम से लेकर सुपारी काटने, तिमंजिली छत पर गमलों में बगीचा लगाने, इन सब कामों में रवि नई बहूरानी के साथी रहते थे। पुरस्कार भी हाथों-हाथ मिल जाता था, क्योंकि भाभी रसोई अच्छी करती थी और बनाकर खिलाने का भी उन्हें शौक था। इसके बदले में रवि पुस्तक या पत्रिका पढ़कर सुनाते। देवर के पढ़ने का ढंग उन्हें बहुत पसन्द था।

केवल एक चीज़ में बहूरानी के साथ उनका प्रबल मत-विरोध था। उन्हें पिंजड़ों में चिड़ियां पालने का शौक था, वह रवि के लिए असहनीय था। जब रवि इस पर अन्याय की

दुहाई देते, तो वह कहतीं—गुरुआई मत दिखाओ। इसीलिए बेकार बहस में न पड़कर रवि चुपके से पिंजड़ा खोलकर पक्षी को मुक्त कर देते थे।

बंगाल की भाभियों में एक अद्भुत शक्ति होती है। एक तरफ तो सहेलियों की तरह खेल में शामिल हो सकती हैं, साथ ही दूसरी ओर अनायास ही जननी का शून्य स्थान भी भर देती हैं। भाभी के अपने बच्चे नहीं थे। शारदा देवी की मृत्यु के बाद रवीन्द्र की ज़िम्मेदारी उन्होंने खुद उठा ली और जननी की भांति प्यार से उनकी देख-रेख करने लगीं—साथ ही, मैत्री का नाता भी बना रहा।

कारण-अकारण भाभी रवि के चेहरे की त्रुटियां पकड़ती रहतीं। रवि का कण्ठ-स्वर अच्छा है या उनमें लिखने की शक्ति अच्छी है, यह बात वह स्वीकार करने को तैयार नहीं थीं। कहीं रवीन्द्र के गर्व को बढ़ावा न मिले, इसीलिए उन्हें कुछ चुभन पहुंचाकर कहती थीं—हां, कविता बुरी नहीं है, पर बिहारी चक्रवर्ती की तरह तुम शायद ही कभी लिख पाओ।

बिहारी लाल उस ज़माने के मशहूर कवि थे और कादम्बरी देवी उनकी एक भक्त पाठिका थीं। मगर रवीन्द्र भाभी के व्यंग्य-विद्रूप की परवाह करने वाले नहीं थे। गीत और कविताओं से आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा उनमें उभर गई थी।

इसी समय रवीन्द्र की लिखी हुई 'वनफूल' नामक कविता 'ज्ञानांकुर' पत्रिका में प्रकाशित हुई। कहा जाए, तो शायद यही उनकी पहली प्रकाशित रचना थी। उस समय वह चौदह वर्ष सात मास के थे। रवीन्द्र की प्रथम प्रकाशित गद्य-रचना भी 'ज्ञानांकुर' पत्रिका में ही प्रकाशित हुई थी। वह एक समालोचनात्मक प्रबन्ध था।

सोलह वर्ष की उम्र (1877 ई०) में उन्होंने नतुन दादा के लिखे हुए प्रहसन 'अलीक बाबू' में अभिनय किया था और यही उनका पहला अभिनय था।

भारती

जब रवीन्द्र ग्यारह वर्ष के थे, तब बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के सम्पादन में 'बंगदर्शन' मासिक पत्र निकला। ठाकुर-परिवार के कई लोग इस पत्र के ग्राहक थे। अन्तःपुर में भी यह पहुंच जाता। कुछ बड़े होने के बाद रवीन्द्र को भी कभी-कभार यह पत्रिका पढ़ने का सुअवसर मिल जाता—कभी चुपके से पढ़ लेते और कभी नई बहूरानी के हुक्म से कहानी या कविता पढ़कर उन्हें सुनानी पड़ती।

अब ज्योतिरिन्द्रनाथ ने तय किया कि बड़े भैया द्विजेन्द्रनाथ के सम्पादन में एक पत्रिका निकले। उसका नाम रखा गया—'भारती'। 1877 ई० के जुलाई महीने से यह प्रकाशित होने लगी। शुरू से ही रवीन्द्र इसके सम्पादक-मण्डल में शामिल थे। 'भारती' के प्रथम अंक में ही माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद वध' काव्य पर रवीन्द्र की एक कठोर

समालोचना निकली। कम उम्र की यह गुस्ताखी याद करके, बाद में रवीन्द्रनाथ शर्मिदा हो जाते थे। वह कहा करते थे—कच्चे आम का रस खट्टा ही होता है।

भानुसिंह ठाकुर की पदावली

ज्योतिरिन्द्रनाथ के संगीत-रसिक और साहित्यकार मित्रों में से एक थे—अक्षय चौधरी। रवीन्द्र के भी वह मित्र बन गए थे। उन्होंने एक दिन रवीन्द्र को अंग्रेज़ कवि चेस्टरटन की कहानी सुनाई। प्राचीन काल के अंग्रेज़ कवियों के अनुकरण से चेस्टरटन ने कुछ कविताएं लिखकर प्रकाशित कराईं और प्रचार किया कि राउली नाम के मध्य युग के किसी पादरी की पाण्डुलिपि से ये कविताएं प्राप्त हुईं। इन कविताओं पर इंग्लैण्ड के विद्वानों में हलचल मच गई। बहुत-से लोग यह नहीं जान पाए कि इन कविताओं का लेखक सोलह वर्ष का एक किशोर था।

रवीन्द्र में भी द्वितीय चेस्टरटन बनने की इच्छा पैदा हुई। विद्यापति की पदावली उन्हें बहुत पसंद थी। किसी टीका-टिप्पणी की सहायता के बिना ही, वह उसे समझने की कोशिश करते थे। एक छोटी-सी नोट बुक में वह ब्रज-बोली के कठिन शब्दों का अर्थ लिख लेते थे। केवल शब्दावली ही नहीं, व्याकरण के नियम भी वह अपनी बुद्धि के अनुसार लिख रखते थे। 'भारती' जैसी घर की पत्रिका रहने से यह इच्छा पूरी होने का मौका भी मिल गया।

बादलों से ढकी हुई एक दोपहरी में पालने पर औंधे पड़े रवीन्द्र ने विद्यापति के अनुकरण में कुछ पद बनाए। पहला पद था :

गहन कुसुम कुंज माझे
मृदुल मधुर बंशी बाजे,...

'भारती' पत्रिका में यह पदावली इस सम्पादकीय टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुई कि इस कविता के रचयिता भानुसिंह ठाकुरनामक कोई पद्यकार थे। आदि ब्रह्मसमाज के पुस्तकालय में से एक जीर्ण पोथी से इन कविताओं का उद्धार किया गया है। 'भारती' पत्रिका में इन पदावलियों के प्रकाशित होने से बंगाल के साहित्यिक समाज में हलचल मच गई थीं।

पदावली के अलावा रवीन्द्र की और भी अनेक रचनाएं 'भारती' में प्रकाशित हुई थीं, उनमें-से कविताएं, कहानियां और देश-विदेश की संस्कृति, साहित्य और सभ्यता पर कई चिन्तनोत्तेजक निबन्ध भी थे। इसी से मालूम हो जाता है कि ज्ञान तथा भाव के राज्य में स्वेच्छापूर्वक घूम-घामकर उन्होंने काफी खज़ाना भर लिया था।

इंग्लैण्ड

'भारती' ने जब दूसरे वर्ष में प्रवेश किया, तब मंझले दादा सत्येन्द्रनाथ अहमदाबाद से कलकत्ता आए। उनकी पत्नी तथा बच्चे उस समय इंग्लैण्ड में थे। वह खुद भी कई महीने बाद लम्बी छुट्टी लेकर समुद्र यात्रा करनेवाले थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि भाई इंग्लैण्ड जाकर पढ़े और बैरिस्टर बने। पिताजी से अनुमति मांगी, तो वह बहुत प्रसन्न हुए। तय हुआ कि रवीन्द्र मंझले भैया के साथ अहमदाबाद जाएंगे। उस समय वह वहां पर जज थे। वहां भैया के साथ वह उनके अंग्रेज़ी शिष्टाचार के माहिर हो जाएंगे।

अहमदाबाद के जज का निवास-स्थान शाही बाग में बादशाही ज़माने के एक महल में रखा गया था। बीते दिनों की कहानी रवीन्द्र की कल्पना में छाया की तरह मंडराती रहती और यहीं पर उनके मन में 'क्षुधित पाषाण' की कहानी का सूत्रपात हुआ। शाही बाग में रहते समय ही किसी चांदनी रात में उन्होंने यह गीत रचा था :

नीरव रजनी देख मग्न जोछनाय...

यानी, नीरव रात्रि ज्योत्स्ना में मग्न दिखाई पड़ती है।

यह गीत इसलिए विशेष उल्लेखनीय है कि पहले-पहल रवीन्द्र ने इसी गीत में स्वर-संयोजना भी स्वयं की थी।

अहमदाबाद में थोड़े दिन रहने के बाद उन्होंने बम्बई की यात्रा की। वह सन् 1878 के 20 सितम्बर को भैया के साथ इंग्लैण्ड की यात्रा पर चल पड़े। उस समय रवीन्द्र सत्रह वर्ष और चार महीने के थे।

इंग्लैण्ड पहुंचकर कुछ दिन ब्राइटन में रहे। वहां मंझली भाभी ज्ञानदानन्दिनी रहती थीं। वह वहां एक पब्लिक स्कूल में भरती हुए। सहपाठी अंग्रेज़ लड़के इस नए भारतीय मित्र को पाकर प्रसन्न हुए। वे अक्सर रवीन्द्र की जेब में सेब, सन्तरे आदि भर देते और फिर लजाकर भाग जाते।

थोड़े दिन बाद वह लन्दन विश्वविद्यालय में भरती हुए। दूसरे भारतीय छात्रों की तरह रवीन्द्र भी एक अंग्रेज़ परिवार में रहने लगे। परिवार का नाम था, स्कॉट। पहले जिस रोज़ वह अपना सन्दूक-बिस्तर लेकर वहां पहुंचे, तो सुना कि घर की दो छोटी लड़कियां विदेशी आगन्तुक के डर से किसी रिश्तेदार के घर भाग गई हैं। उनकी माताजी जाकर लड़कियों को समझा-फुसलाकर लौटा लाईं। लड़कियों ने आकर देखा कि यह भारतीय किशोर कोई भयानक जीव नहीं, बल्कि काफी सुन्दर और भव्य तरुण है। बाद को इन लड़कियों से रवीन्द्र की काफी मित्रता हो गई थी।

श्रीमती स्कॉट रवीन्द्र पर अपने पुत्र की तरह स्नेह रखती थीं। घर के काम-काज के बाद हर शाम को वह अपने लड़के-बच्चों की पढ़ाई, गाना-बजाना, किस्सा-कहानी में बड़े



लन्दन में रवीन्द्रनाथ

उत्साह से हाथ बंटाती थीं। रवीन्द्र इस महफिल के केन्द्र थे। जैसी सुरीली आवाज़, वैसा ही कविता पढ़ने का ढंग। संध्याकालीन महफिल में रवीन्द्र पर अंग्रेज़ी काव्य, नाटक आदि पढ़कर सुनाने की जिम्मेदारी थी। पढ़ते-पढ़ते कभी-कभी रात के ग्यारह-बारह भी बज जाते।

रवीन्द्र, विश्वविद्यालय में हेनरी मार्ली (1822-94) नामक एक मशहूर अध्यापक से अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ते थे। वह ऐसे पढ़ाते थे कि उनकी आवाज़ में साहित्य सजीव हो उठता था। वह सिर्फ पढ़ाते ही नहीं थे, नियमित रूप से लिखने का काम भी देते थे। सप्ताह के किसी निर्दिष्ट दिन छात्रों को अपनी रचनाएं पेश करनी पड़ती थीं। कॉपी पर नाम लिखने का हुक्म नहीं था। मार्ली ये रचनाएं घर ले जाकर पढ़ते थे और निर्दिष्ट दिन क्लास में सभी छात्रों की उपस्थिति में इन तमाम रचनाओं के गुण-दोष पर विचार करते थे। रवीन्द्र के किसी सहपाठी भारतीय छात्र ने अंग्रेज़ों की स्तुति तथा भारतीयों की शिकायत-भर कर एक निबंध-रचना की थी, जिसकी मार्ली ने कठोर आलोचना की और कहा कि मिथ्या प्रशंसा अंग्रेज़ों के लिए खराब है और भारतीयों के लिए असम्मान-पूर्ण। भारतीयों को इस लज्जा से मुक्त करने के लिए रवीन्द्र ने एक निबंध 'भारत में अंग्रेज़ प्रशासकों का असौजन्य' लिखा। निर्दिष्ट दिन रवीन्द्र क्लास से भागते फिरे। न जाने, मार्ली साहब क्या कहें ? ओट में कहीं छिपे बैठे थे कि उनके मित्र लोकेन पालित ने आकर उनकी पीठ ठोंकी और बताया कि मार्ली साहब ने रवीन्द्र के निबन्ध की खूब प्रशंसा की और उसे सारे क्लास के सामने पढ़-कर सुनाया।

केवल डेढ़ साल रवीन्द्र इंग्लैण्ड रहे और उस बीच उन्हें मात्र तीन-चार महीने विश्व-विद्यालय में पढ़ने का मौका लगा। इतने थोड़े समय में ही उन्होंने अंग्रेज़ समाज और अंग्रेज़ी साहित्य की काफी जानकारी प्राप्त कर ली। उनके वहां से लिखे हुए पत्रों से इसका परिचय मिलता है। ये पत्र 'यूरोप-प्रवासी के पत्र' के नाम से धारावाहिक रूप से 'भारती' में प्रका-शित होते रहे। इंग्लैण्ड के साथ उनके गहरे परिचय के मूल में स्कॉट-परिवार का स्नेह था। हिमालय-भ्रमण की आदत के अनुसार रवीन्द्र लन्दन की भयंकर सर्दी में भी प्रतिदिन बर्फ जैसे ठण्डे पानी से स्नान करते थे। श्रीमती स्कॉट परेशान होती थीं। उन्हें क्या मालूम कि बचपन से ही रवीन्द्र के शरीर में रोग के प्रवेश का दरवाज़ा बन्द था।

मंझले भैया की छुट्टी खत्म हो गई। महर्षि ने लिखा कि सत्येन्द्रनाथ के साथ रवीन्द्र को भी स्वदेश लौटना है। विदा लेते समय श्रीमती स्कॉट रवीन्द्र के दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर बोली थीं :

—इतने ही दिनों के लिए आना था, तो क्यों आए थे ?

'वाल्मीकि-प्रतिभा', 'संध्या-संगीत', 'बहू ठाकुरानीर हाट'

इंग्लैण्ड रहते समय रवीन्द्र की काव्य तथा संगीत-चर्चा में कोई कमी नहीं आई थी। वह वहीं से 'भारती' के लिए नियमित रूप से रचनाएं भेजते रहते थे। वहां पर उन्होंने कुछ अंग्रेज़ी तथा आयरिश संगीत का भी अभ्यास किया था। स्कॉट-परिवार तथा मित्र-गोष्ठी में उनकी बुलन्द पुरुषोचित 'टेनर' आवाज़ की काफी प्रशंसा होती थी। देश लौटने पर, जब उन्होंने घरवालों को वे गीत सुनाए, तो सभी ने कहा—रवीन्द्र की आवाज़ कुछ बदल-सी गई है; कुछ अंग्रेज़ी ढंग की मज़ेदार आवाज़ हो गई है।

ज्योतिरिन्द्रनाथ उन दिनों पियानो पर शास्त्रीय सुर निकालकर कुछ नए प्रयोगों में व्यस्त थे। तभी देशी तथा विदेशी सुरों की इस चर्चा के बीच रवीन्द्र के प्रथम गीति-नाट्य 'वाल्मीकि-प्रतिभा' की सृष्टि हुई। देशी राग तथा अंग्रेज़ी और आयरिश सुरों के मेल से इस गीति-नाट्य में एक बिल्कुल नए रस का आविर्भाव हुआ।

उस समय ठाकुरबाड़ी में 'विद्वज्जन समागम सभा' नामक एक साहित्यिक महफिल लगती थी। इन्हीं विद्वानों के मनोविनोद के लिए सन् 1881 की फरवरी में पहली बार 'वाल्मीकि-प्रतिभा' का अभिनय प्रस्तुत किया गया। दर्शकों में बंकिमचन्द्र भी थे। इस नाटक की उस ज़माने में भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। स्वयं रवीन्द्र ने वाल्मीकि का अभिनय किया था। सरस्वती की भूमिका में संझले दादा हेमेन्द्रनाथ की बड़ी लड़की प्रतिभा उतरी थी। नाटक के अंतिम दृश्य में सरस्वती, वाल्मीकि के हाथों में वीणा देकर बोलती हैं :

येथाय हिमाद्रि आछे सेथा तोर नाम रबे,
येथाय जाह्नवी बहे तोर काव्यस्रोत रबे।
मोर पद्मासन तले रहिबे आसन तोर।
नित्य नव-नव गीते सतत रहिबि भोर!
एइ ने आमार वीणा दिनु तोरे उपहार,
ये गान गाहिते साध, ध्वनिबे इहार तार।

यानी, जब तक हिमालय है, तब तक तुम्हारा नाम रहेगा। जब तक गंगा बहेगी, तब तक तुम्हारा काव्यस्रोत भी प्रवाहित होता रहेगा। मेरे पद्मासन के नीचे तुम्हारा आसन बना रहेगा। तुम नित्य नए-नए गीतों में मस्त रहोगे। मैं अपनी वीणा तुम्हें उपहार में दे रही हूं। तुम जो भी चाहोगे वह इस वीणा के तार पर ध्वनित होगा।

यह जैसे भविष्यवाणी ही थी।

अभिनय के दो महीने बाद बेथून सोसाइटी के आमंत्रण पर रवीन्द्र ने 'गीत और भाव' पर एक भाषण दिया। किसी भी सभा में दिया गया यह उनका प्रथम भाषण था। गीत और

भाव के निकट-संबंध के बारे में बोलते समय रवीन्द्र ने उदाहरण देते हुए विभिन्न सुरों के कई भावों के गीत सुनाए थे। सभापति रेवरेण्ड कृष्णमोहन वन्द्योपाध्याय ने किशोर कवि-गायक की बेहद तारीफ की। रवीन्द्र-संगीत में सुर के साथ भाव या शब्द का जो गहरा मेल पाया जाता है, यह भाषण जैसे इसी की भूमिका था।

भाषण के बाद वाले दिन रवीन्द्र ने दूसरी बार समुद्रयात्रा की। इस बार साथ में भांजा सत्यप्रसाद भी था। घरवालों की इच्छा थी कि दोनों इंग्लैण्ड से बैरिस्टर बनकर लौटें।



वाल्मीकि के रूप में रवीन्द्रनाथ

रास्ते में सत्यप्रसाद का शरीर तथा मन, दोनों ही कुछ पीड़ित हुए, तो मामा-भांजे मद्रास से लौट आए। इस समय रवीन्द्र बीस साल के थे। महर्षि मसूरी में थे। उन्होंने रवीन्द्र का ज़रा भी तिरस्कार नहीं किया, उनका विश्वास था—ईश्वर जो भी करते हैं, भलाई के ही लिए।

मसूरी से रवीन्द्र चंदननगर आए। नतुन दादा उस समय वहीं पत्नी के साथ मोरान साहब के नाम से विख्यात उद्यान-भवन में रहते थे। वर्षा के दिन थे। गंगा उमड़कर बह रही थी। रवीन्द्र का संगीत भी इसी गंगा की भांति बहता रहा। यहीं मोरान साहब के बगीचे में संध्या संगीत की कविता की धारा चल रही थी। 'संध्या संगीत' जोड़ासांको के तीसरे मंजिल में रचित हुआ।

किशोर-हृदय की सारी व्याकुलता उड़ेलकर ये कविताएं लिखी गई थीं। वास्तविक साहित्य-प्रेमी उसी समय समझ गए थे कि विशुद्ध कवि के अलावा, कोई 'संध्या-संगीत' काव्य की रचना नहीं कर सकता। पुस्तक प्रकाशित होने के थोड़े दिन बाद रवीन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त के घर किसी विवाह के निमंत्रण में गए। बंकिमचन्द्र भी ठीक उसी समय अपनी गाड़ी से उतरे थे। गृहस्वामी माला लेकर बंकिम का स्वागत करने के लिए आगे बढ़े। बंकिम ने यह माला लेकर रवीन्द्र के गले में डाल दी और कहा—"यह माला इन्हीं को देय है। रमेश क्या तुमने 'संध्या-संगीत' पढ़ा है ?"

चंदननगर में रहते समय रवीन्द्र ने अपना पहला उपन्यास 'बहू ठाकुरानीर हाट' लिखना शुरू किया।

'निर्झरेर स्वप्नभंग'

1881 ई०। अब रवीन्द्रनाथ इक्कीस वर्ष के थे। इतने दिनों तक वह जैसे अपने-आप में ही मग्न थे। एकाएक गहरे अनुभव ने जैसे उनके सामने विराट विश्व का द्वार खोल दिया। उस समय वह चंदननगर का गंगातट छोड़कर ज्योतिरिन्द्रनाथ के साथ कलकत्ता की चौरंगी में सदर स्ट्रीट के एक मकान में रहते थे। अपनी इस विचित्र अनुभूति के विषय में रवीन्द्रनाथ ने अपनी जीवन-स्मृति में लिखा है :

उस समय मेरे भीतर एकाएक जैसे कुछ उलट-पुलट हो गई। जहां सदर स्ट्रीट खत्म होती है, एक रोज़ सवेरे बरामदे में खड़ा-खड़ा मैं उधर देख रहा था; देखते-देखते पलभर में ऐसा लगा, मानों मेरी आंखों के सामने से कोई पर्दा हट रहा हो। मैंने देखा कि सारा विश्व एक अपरूप महिमा से मण्डित हो गया। आनंद और सौंदर्य से सब-कुछ जैसे तरंगित हो रहा था।...अब जैसे मेरे निकट कोई भी कुछ भी, अप्रिय नहीं रह गया। सड़क पर जो मज़दूर या और कोई चलता था, उसकी चाल, उसके शरीर का गठन, उसका चेहरा, इन सबने मानव-शरीर की गति में जो संगीत होता है, उससे मुझे मोहित कर लिया।...मित्र के साथ मित्र आनंद से हँस रहा है, माता शिशु को दुलार रही है, गाय अपने बछड़े के पास खड़ी उसे चाट

रही है। इन सभी दृश्यों में जो एक अंतहीन अपरिमेयता है, वह मेरे मन को विस्मयाघात से जैसे दुखाती रही। उसी रोज 'निर्झरेर स्वप्नभंग' (झरने का स्वप्नभंग) कविता निर्झर की भांति फूटकर बह निकली।

कवि को लगा :

जागिया उठेछे प्राण,
ओरे उथलि उठेछे वारि,
ओरे प्राणेर वेदना प्राणेर आवेग
रुधिया राखिते नारि।
× × ×
आमि ढालिब करुणा-धारा,
आमि भांगिब पाषाण-कारा,
आमि जगत् प्लाविया बेड़ाब गाहिया आकुल पागल-पारा।
× × ×
एक कथा आछे एक गान आछे
एत प्राण आछे मोर,
एत सुख आछे एक साध आछे
प्राण हये आछे भोर।

यानी मेरा प्राण जाग गया है। स्रोत उमड़ पड़ा है। मैं इस स्रोत और आवेग को संभाल नहीं पा रहा हूं। मैं करुणा की धारा ढाल दूंगा। पाषाण-कारागार को मैं तोड़ दूंगा। मैं विश्व को प्लावित करके पागलों की तरह गाता फिरूंगा। इतना कहना है, इतना गीत सुनाना है, इतना प्राण है, इतना सुख है, इतनी भावना है कि प्राण विभोर है।

ऐसे विश्व-बोध के आनंद में वह चार दिन मग्न रहे।

उन्हीं दिनों उन्होंने एक और कविता लिखी, जिसकी पहली दो पंक्तियां इस प्रकार हैं :

हृदय आजिमोर कमने गेल खुलि,
जगत् आसि सेथा करिछे कोलाकुलि।

यानी आज न जाने, कैसे मेरे हृदय के द्वार खुल गए और मैंने देखा कि सारा विश्व वहां गले मिल रहा है।

विश्व के साथ आत्मीयता की यह अनुभूति और उसका प्रभाव उनके दीर्घ-जीवन में व्याप्त था। तभी तो विश्व ने उन्हें विश्व-कवि कहकर अपना लिया।

'प्रकृतिर प्रतिशोध'

कलकत्ता से वह कुछ दिनों के लिए देवदारों से भरपूर दार्जिलिंग गए। वहां से फिर दक्षिण गए, एकदम कर्नाटक के झाऊ-वनों से घिरे कारवार बंदरगाह पर। कलकत्ते की जन-बहुल सदर स्ट्रीट में जो विश्व-बोध हुआ था, वह जैसे फिर खो गया।

कारवार में रहते समय कवि ने अपनी उस अपूर्व सत्योपलब्धि को एक रूपक के रूप में प्रकाशित किया। इस नाट्य काव्य का नाम था—'प्रकृतिर प्रतिशोध', यानी प्रकृति का प्रतिशोध। काव्य का नायक एक सन्यासी है। स्नेह-बंधन को तोड़कर वह प्रकृति पर विजय करके अनंत को पाना चाहता है, जैसे अनंत इस सबके अतिरिक्त कुछ और हो। आखिर, एक बालिका ने उसे स्नेह-बंधन में बांध लिया। अनंत तपस्या से मुक्त करके वह उसे संसार में लौटा लाई। संसार-त्याग तथा ग्रहण के दारुण अंतर्द्वन्द्व में हृदयहीन मायावाद परास्त हो गया। आखिर सन्यासी ने देखा कि सीमा में ही असीम का स्थान है और बंधनों में ही मुक्ति है।

उसी साल (1883 ईसवी) के अंत में मृणालिनी देवी के साथ रवीन्द्रनाथ का विवाह हुआ।

इस संसार में आनंद, विषाद, विरह, मिलन, जीवन और मृत्यु हाथ-में-हाथ डाले हुए आते-जाते हैं। एकाएक मृत्यु कवि के जीवन में विच्छेद लाई। गंभीर दुख के आघात से उन्होंने समझ लिया कि वास्तविक जीवन में सिर्फ आनंद-ही-आनंद नहीं है। रवीन्द्र के विवाह के पांच माह बाद ही नई बहूरानी कादम्बरी देवी की मृत्यु हो गई।

जिनके साथ बचपन से ही इतने दिन बीते, शारदा देवी की मृत्यु के बाद जिसकी स्नेह-ममता से वह बड़े हुए, साहित्य तथा संगीत में जो उनकी प्रेरणा की उद्‌गम थीं, उनकी इस अकाल मृत्यु से रवीन्द्रनाथ एक असहनीय शोक से व्याकुल हो उठे। सारा विश्व जैसे उनके सामने अंधकारपूर्ण हो गया। अपने मन को लगातार समझा-बुझाकर आखिर वह इस विकल दशा से मुक्त हुए। जीवन और मृत्यु के ग्रहण-हरण की नित्यधारा जगत में नदी-सी ही प्रवाहित होती रहती है—यह अनुभूति उनमें धीरे-धीरे आ गई। फिर कभी मृत्यु-शोक उन्हें विचलित नहीं कर पाया।

कवि को पुरस्कार

मृत्यु-शोक रवीन्द्रनाथ को अभिभूत नहीं कर पाया और उनके जीवन में एक गहराई आ गई।

महर्षि ने इस समय उन पर आदि ब्रह्म-समाज के संचालन का भार लाद दिया। इन्हीं दिनों रवीन्द्रनाथ ने कई धर्म-गीतों की रचना की। उनके बचपन में लिखी गई ईश्वर-स्तुति

में संसार-यंत्रणा का परिचय सुनकर महर्षि एक दिन खूब हँसे थे, पर इन दिनों का धर्म-संगीत सुनकर वह बहुत प्रसन्न होते थे।

उन दिनों महर्षि चूंचूड़ा में रहते थे। रवीन्द्रनाथ वहीं बुलवाए गए। उस बार के माघोत्सव के लिए उन्होंने कई गीत लिखे। महर्षि ने उन्हें सामने बैठकर नए गीत सुनाने को कहा। उनमें से एक गीत यह था :

नयन तोमरे पाय ना देखिते
रयेछ नयने-नयने।

यानी आंखें तुम्हें देख नहीं पातीं, पर तुम आंखों-ही-आंखों में हो।

महर्षि सिर झुकाकर दोनों हाथ जोड़े, आंखें बंद किए, यह गीत सुनते रहे। गीत खत्म होने पर उन्होंने कहा—अगर देश का राजा इस देश की भाषा का जानकार होता, तो वह इस गीत के लिए कवि को पुरस्कार देता। राजा से यह पुरस्कार मिलने की सम्भावना तो है नहीं, सो मुझे ही यह काम करना पड़ेगा। यह कहकर उन्होंने रवीन्द्र के हाथों में पाँच सौ रुपये का एक चेक रख दिया।

निष्क्रमण

इन्हीं दिनों (1884 ई०) बंगाल में नव्य हिंदुत्व का अभ्युदय हुआ। बहुत लोग हिंदुत्व की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए बेचैन हो उठे। कई लोग तो छींक और छिपकली की आवाज़ को अपशकुन मानने-जैसे कुसंस्कारों की भी वैज्ञानिक व्याख्या करने पर जुट गए। अनेक का कहना था कि चोटी (शिखा) में विद्युत-प्रवाह रहता है। ये सब अजीब विचार और व्याख्याएं थीं। उन्होंने अपने व्यंग्य-काव्य में, कौतुक नाट्य में और सुचिंतित निबंधों में हिंदुत्व की इन अपव्याख्याओं की निन्दा की, यहाँ तक कि वह अपने परम श्रद्धेय साहित्यगुरु बंकिमचंद्र के विरुद्ध भी लिखने से नहीं चूके।

अब रवीन्द्रनाथ लोगों के बीच आ खड़े हुए। भावुकता के आकाश में कल्पना के पंखों पर आकाशविहार की बारी अब खत्म हो गई। वह अब दृढ़ कदमों से देश की धरती पर खड़े हो गए।

1886 ईसवी में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इस सभा के मंच पर रवीन्द्रनाथ ने स्वरचित गीत गाया :

आमरा मिलेछि आज मायेर डाके
घरेर हये परेर मतन

भाई छेड़े भाई कदिन थाके
यखन थाकि ये येखाने
बांधन आछे प्राणे-प्राणे
सेई प्राणेर टाने टेने आने
प्राणेर वेदन जाने ना के ?

यानी आज हम सब भारत माता के बुलावे पर मिले। हम एक घर के हैं। पराये की तरह भाई से बिछुड़कर भाई कितने दिन रह सकता है ? हम कहीं भी रहते हों, हमारे प्राणों का बंधन है; उसी के आकर्षण से हम एक-दूसरे के पास खिंच आते हैं। प्राण की व्यथा कौन नहीं जानता ?

स्वदेशी ढंग से सरल भाषा में बंगला का यह गीत रवीन्द्रनाथ के आगामी जीवन की मानो भूमिका थी। पद्मा नदी के उस पार शिलाईदह ग्राम के बाद के रवीन्द्रनाथ के प्रसंग पर आने से पहले, उनके व्यक्तिगत जीवन तथा साहित्य-साधना के संबंध में कुछ कह लिया जाए।

सन् 1884-1890

ब्याह के बाद से 1890 ई० तक साहित्य-रचना में कोई विराम नहीं था। 'भारती' पत्रिका के लिए तो लिखते ही थे, फिर दूसरी पत्र-पत्रिकाओं में भी कहानी, नाटक, निबंध, आलोचना और काव्य आदि लगातार प्रकाशित होते रहे। इन पत्र-पत्रिकाओं में ज्ञानदा नंदिनी देवी द्वारा सम्पादित 'बालक' मासिक पत्र, बंकिमचंद्र के सम्पादन में प्रकाशित 'प्रचार', 'संजीवनी', और 'तत्व बोधिनी पत्रिका' आदि थे। 'मुकुट गल्प', तथा 'राजर्षि' नामक रचनाएं 'बालक' में प्रकाशित हुई थीं।

उन दिनों की सर्वश्रेष्ठ रचना 'मानसी' है। उसकी अधिकांश कविताएं गाज़ीपुर में लिखी गई थीं।

1890 ई० में वह थोड़े दिन के लिए एक बार शांतिनिकेतन आए। इसके दो साल पहले एक ट्रस्ट बनाकर महर्षि ने शांतिनिकेतन की ज़मीन, कोठी आदि को सर्वसाधारण के लिए अर्पित कर दिया था और खर्च के लिए एक वार्षिक रकम भी बांध दी थी।

रवीन्द्रनाथ ने 'पृथ्वीराज पराजय' काव्य बाल्यावस्था में लिखा था। अब उन्होंने मेघदूत के कवि का स्मरण किया :

कविवर, कबे कोन विस्मृत बरषे
कोन पुण्य आषाढ़ेर प्रथम दिवसे
लिखेछिले मेघदूत।

यानी, हे मेघदूत के कवि ! न जाने किस विस्मृत वर्ष, किस पुनीत आषाढ़ के प्रथम दिवस पर तुमने 'मेघदूत' लिखा था !

उन्होंने इन कुछ वर्षों में एकाधिक नाटक भी लिखे थे। गीत-नाट्य 'मायार खेला' सखी-समिति नाम की एक महिला-संस्था के अनुरोध पर लिखा गया था। 'मायार खेला' नाटक के गीतों में ही पहली बार सुर की विचित्रता की दृष्टि से रवीन्द्र-संगीत की विशेषता स्पष्ट हो गई। अन्य दो नाटक भी लिखे गए, जिनका नाम था 'राजा ओ रानी' तथा 'विसर्जन'। तैयार होने के साथ-ही-साथ ये नाटक अभिनीत भी हुए। 'राजा ओ रानी' नाटक के विक्रम के रूप में तथा 'विसर्जन' के रघुपति के रूप में स्वयं नाटककार ने अपूर्व अभिनय किया।

कई साल बाद 1890 ई० में सत्येन्द्रनाथ फिर से छुट्टी लेकर इंग्लैण्ड जाने लगे, तो साथ में रवीन्द्र को भी ले गए। केवल तीन महीने की छुट्टी थी। इस बार के प्रवास का सरस वर्णन 'यूरोप यात्री की डायरी' में मिलता है। पर इस बार यूरोप में उनका मन नहीं लगा। बड़े लड़के रथीन्द्र की उम्र उस समय दो साल की थी और बड़ी लड़की बेला की उम्र चार वर्ष। उन दिनों वह 'काबुली वाला' की मिनि की तरह अनर्गल बातें करती थी। यूरोप में रहते समय वह अपने बच्चों का अभाव महसूस करते थे।

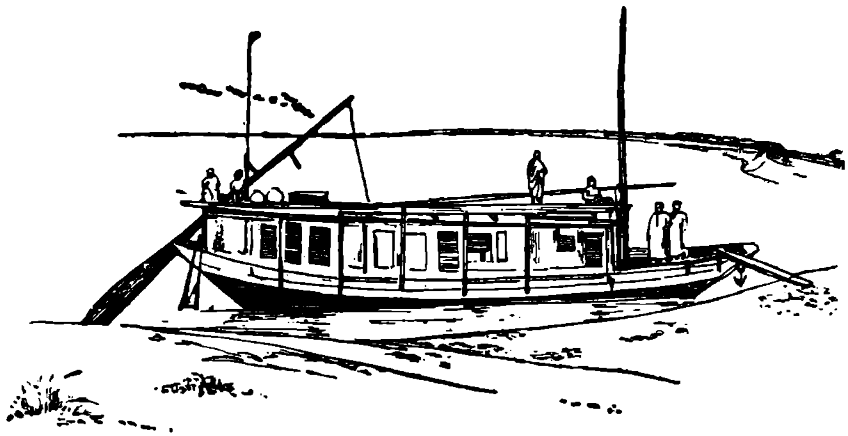
1890 ई० के अंत में स्वदेश लौटते ही जमींदारी के कामों से रवीन्द्रनाथ शिलाईदह गए। अकेले ही जाना पड़ा। बच्चे बहुत छोटे थे, इसलिए मृणालिनी देवी उनके साथ जोड़ासांको के मकान में ही रह गई। पर कवि को अक्सर, कलकत्ता आना पड़ता—कभी तो बच्चों के लिए और कभी साहित्यिक कार्यों से।

शिलाईदह

फिर वही शिलाईदह, जिसके एक ओर मतवाली पद्मा नदी और दूसरी ओर गोराई नदी थी। दोनों के बीच हरे-भरे पेड़-पौधे, बस्ती तथा सुन्दर शांतिमय वातावरण था। रहने के लिए जमींदार की कोठी थी, पर वहाँ रवीन्द्रनाथ कम ही रहते थे। कचहरी का काम खत्म होने पर वह अपने बजरे पर चले जाते थे। बजरे का नाम था—पद्मा। जब अकेले रहते थे, तब यह नाव ही उनका डेरा बनती थी। नाव पर नदी के रास्ते अपनी विस्तृत जमींदारी के भिन्न-भिन्न इलाके, साजादपुर, पतिसर, कालिग्राम आदि की यात्रा करते; पर अधिकतर शिलाईदह में ही रहते।

बचपन में नतुन दादा के साथ वह एक बार शिलाईदह आए थे। हिमालय भ्रमण के बाद नदीमातृक बंगाल के साथ उनका प्रथम परिचय हुआ था। पर इस बार का आना एकदम और तरह का था। सदर स्ट्रीट की उस अपूर्व अनुभूति के बाद उनकी आँखें खुल गई

थीं, मृत्यु-शोक के आघात से हृदय और गम्भीर हो गया था, संतान के पिता बनकर वह संसार की जिम्मेदारी समझने लगे थे।



'बजरा पद्मा'

इतने दिनों तक उनका जीवन साहित्य, संगीत, अभिनय आदि में ही बीता था। अधिकतर रहे थे कलकत्ता में। ज़मीन-जायदाद की जिम्मेदारी लेकर जब वह इस बार गांव आए, तो उनके जीवन का एक महान अध्याय शुरू हुआ। धीरे-धीरे ग्रामीण बंगाल के साथ, सरलचित्त किसानों के साथ उनका प्रत्यक्ष परिचय होने लगा। बचपन में हिंदूमेला, संजीवनी सभा, स्वदेशी आदि में जो मस्त हो गए थे, उनमें बचपना था। अब वास्तविक स्वदेश का साक्षात्कार हुआ। अब उन्होंने धरती माता को देखा, अपनी धरती माता, जिसके सुनहले धान के खेतों में स्नेहमयी नदियों के किनारे दुख-सुख भरे गांवों में उन्होंने देखा कि बंग-जननी ने अपनी संतानों के लिए गोद फैला रखी है। उन्होंने अब गांव के लोगों को देखा, जो सचमुच धरती के पुत्र थे।

साजादपुर रहते समय उनका खास खानसामा एक दिन देर से आया, तो युवक जमींदार साहब अप्रसन्न हुए। सामने आकर मोमिन मियां ने रोज की तरह सलाम किया; भर्राई हुई आवाज में कहा—कल रात मेरी आठ वर्ष की बेटी चल बसी। उसे मिट्टी देकर आया हूं।

यह कहकर वह झाड़न हाथ में लिए रोज की तरह काम में जुट गया।

फिर, एक दिन की बात है एक बूढ़ा किसान आकर बोला—उस साल धान अच्छा नहीं हुआ था, इसीलिए चंचूड़ा में आपके पिताजी के पास इंसाफ मांगने गया था और उन्होंने कहा था कि मैं कुछ छोड़ रहा हूँ, पर तुम लोग भी मुझे कुछ खाने को देना। मैं उनके दरबार में पहुँचा था, सो गुस्से में आकर अमीन ने मुझे झूठे मुकदमे में तीन महीने की जेल

करवा दी। इसीलिए आपकी जमीन को सलाम करके दूसरे इलाके में जा बसा था। वहां का जमींदार आपकी कुछ ज़मीन दबा बैठा था, यह बात मैंने यहां की कचहरी में बता दी थी। इसी गुस्से में उस ज़मीदार ने मेरी खड़ी फसल छीन ली। जिसकी ज़मीन पर मैं बूढ़ा हुआ, उसकी भलाई की बात भी नहीं कर सकता ? कहकर बूढ़े मियां ने आंखों का एक बूंद आंसू पोंछ लिया।

और भी एक घटना यहां याद आती है।

पालकी पर वह ज़मींदारी का मुआयना करने जा रहे थे। एक वृद्ध किसान ने मैदान से दौड़ते हुए आकर पालकी रुकवाई। धोती का छोर खोलकर नज़राना दाखिल किया। रवीन्द्र ने लेने से इनकार किया, पर वह न माना, बड़े सहज ढंग से बोला—अगर हम न दें, तो तू खाएगा कहां से ?

उन सरल किसानों से उनका परिचय बढ़ता गया। ज़मींदारी के कामों की बदौलत वह असहाय, निरुपाय, दूसरों पर निर्भर रहनेवाले किसानों को पहचानने लगे। वह समझ गए कि यही उनके अपने हैं, देश के वृहत् परिवार के सदस्य हैं। अगर इनकी ज़बान को भाषा न मिल सके, इनके हृदय में आशा प्रज्जवलित न हो सके, तो इस देश का कल्याण नहीं हो सकता। जिस देश के 80 प्रतिशत लोग गांवों में रहते हैं, वहां के गांव यदि पिछड़े रहें, तो देश कैसे आगे बढ़ सकता है ? उन्होंने यह भी समझ लिया कि जब तक सारे देश के ये नाबालिग-सरीखे लोग इंसान की तरह अपने पांवों पर खड़े नहीं होंगे, तब तक इन्हें कोई नहीं बचा सकेगा—राजा ज़मींदार तो क्या ईश्वर-अल्लाह भी नहीं। ये दूसरों का मुंह ताकते हैं, शक्तिमान की दया के भरोसे रहते हैं और दुख-सुख को हर बात में अदृश्य और किस्मत की दुहाई देते हैं। देश तथा जाति का कल्याण इनमें ही बसता है, यह इन्हें मालूम नहीं। घर में आग लगी हो, महामारी से गांव-के-गांव उजड़ रहे हों, तो ये सिर धुन कर किस्मत को कोसते हैं; और नहीं, तो धनिकों के दरवाजे पर हाथ पसारते हैं।

रवीन्द्रनाथ कई तरीकों से गांव की उन्नति की तरकीब सोचते रहे। भीख देकर इंसानियत को जगाया नहीं जा सकता, इसीलिए उन्होंने अपने असामियों को बुलाकर कहा—अपनी भलाई तुम खुद ही कर सकते हो। जो काम अकेले न कर पाओ, जिस काम से औरों की भलाई होती हो, उसे तुम मिलजुलकर करो। सब लोग मिलजुलकर जो काम करते हैं, उसमें हार-जीत हो, तो किसी एक को दोष नहीं लगता।

बाहर से उपदेश देना आसान है, पर काम में जुटकर उसे पूरा करना कितना कठिन है, रवीन्द्रनाथ अब यह भली-भांति समझ गए। केवल देशप्रेम या देश के लोगों से प्रेम करके ही देश-सेवा नहीं होती। सेवा कार्य के लिए भी शिक्षा तथा साधना की ज़रूरत होती है। ज़मींदार के रूप में रवीन्द्रनाथ अपने असामियों के प्रिय बन गए थे। इसी प्रेम से वह अपने अंतिम वर्षों (1937) में कमज़ोरी की हालत में भी, ग्रामवासियों के अनुरोध पर, पतिसर गए थे। जिस दिन वह अंतिम विदा लेकर आ रहे थे, उस दिन अतराई स्टेशन पर भारी भीड़

जमा हो गई थी। उनमें से बहुतों की दाढ़ी उन्हीं की तरह सफेद थी। आंखों से आंसू बहाते हुए गांव के बूढ़ों ने उस रोज कहा था—पैगम्बर को तो हमने आंखों से नहीं देखा, पर अपने बाबूजी को आंख भरकर अवश्य देख लिया।

गल्पगुच्छ

ज़मींदारी के इलाके में रहते समय भी रवीन्द्र की साहित्य-रचना में कमी नहीं आई थी। 'हितवादी', 'साधना' तथा 'भारती'—इन तीन पत्रिकाओं में उनकी रचनाएं हर महीने प्रकाशित होती थीं। काव्य, नाटक, निबंध, समालोचना आदि तो थी ही, वह 'गल्पगुच्छ' की अपूर्व कहानियां भी लिखकर भेजने लगे। इस प्रकार, बंगला साहित्य में वास्तविक कहानी का सूत्रपात उन्होंने ही किया। 'गल्पगुच्छ' की अधिकांश कहानियां देहात के प्राकृतिक वातावरण तथा ग्राम-जीवन पर लिखी गई हैं।

उनकी पहले-पहल लिखी हुई कहानियों में से एक 'पोस्टमास्टर' है। ज़मींदारी में रहते समय अपनी भतीजी इंदिरादेवी को बराबर पत्र लिखा करते थे। वे पत्र बाद में 'छिन्नपत्र' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए थे। एक चिट्ठी में साजादपुर के इस पोस्टमास्टर का उल्लेख है।

गांव में रहते समय रवीन्द्र की रुचि लोकसाहित्य तथा लोकगीतों की ओर अधिक झुकी। उन्होंने ही पहले-पहल इस ओर शिक्षित समाज की दृष्टि आकर्षित की। उनके बहुत-से गीतों में लोक-संगीत का स्पष्ट प्रभाव है। लालन फकीर नाम के एक प्रसिद्ध बाउल के कई पदों का उन्होंने खुद संग्रह किया था। गांव में रहते समय गगन हरकारा नाम के एक व्यक्ति से वह अक्सर गीत सुना करते थे :

आमि कोथाय पाबो तारे
आमार मनेर मानुष येरे...

यानी, मैं अपने प्रिय को कहां खोज पाऊंगा ?
इसी बाउल-सुर में रवीन्द्रनाथ ने गीत प्रस्तुत किया :

आमार सोनार बांगला,
आमि तोमाय भालोबासि।

यानी, मेरे सोने के बंगाल, मैं तुझे प्यार करता हूं !

स्वदेशी साधना

1886 ईसवी में कलकत्ता में राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में रवीन्द्रनाथ ने गीत गाया था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

कांग्रेस की इन वार्षिक सभाओं में उस युग के सभी नामी नेता चुस्त अंग्रेजी में खूब लम्बे-चौड़े भाषण किया करते थे। उन नरम-गरम व्याख्यानों का उद्देश्य यही होता था कि



बाउल नृत्य

सरकार से कुछ सुविधाएं मिल जाएं। हर साल ब्रिटिश सरकार के सामने कुछ मांगें पेशकर कुछ प्रस्ताव पास करना ही उस ज़माने में कांग्रेस का प्रधान कर्त्तव्य था।

अधिकांश नेता, वकील तथा बैरिस्टर थे। कलकत्ते के वकीलों में उन दिनों सबसे ज्यादा प्रैक्टिस तारकनाथ पालित की थी। यह रवीन्द्र के मंझले भाई सत्येन्द्रनाथ के मित्र तथा लंदन में रवीन्द्र के सहपाठी लोकेन पालित के पिता थे। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के बाद उन्होंने नेताओं को अपने बालीगंज वाले विशाल भवन में आमंत्रित किया। पालित महाशय की इच्छा थी कि खाने-पीने के बाद रवीन्द्र कोई गीत सुनाकर अतिथियों को प्रसन्न करें। इस कारण वह भी बुलाए गए थे।

निर्दिष्ट समय पर, शाम को अतिथि आ पहुंचे। पर रवीन्द्रनाथ की पोशाक अजीब किस्म की थी। और सब तो अंग्रेज़ी ढंग से डिनर-सूट में सुसज्जित होकर आए थे, पर रवि के शरीर पर बंगालियों-जैसी धोती और चादर थी। जब उनसे गाने के लिए कहा गया, तो उन्होंने उसी दिन लिखा हुआ एक गीत सुनाया। उसे सुनकर अतिथियों को प्रसन्नता हुई कि नहीं, यह कहना कठिन है। गीत की प्रारम्भिक पंक्तियां इस प्रकार थीं :

आमाय बोलो ना गाहिते बोलो ना।
एकि शुधु हासि खेला, प्रमोदेर मेला
शुधु मिछे कथा छलना।
ए ये नयनेर जल हताशेर श्वास,
कलंकेर कथा दरिद्रेर आश,
ए ये बुक फाटा दुख गुमरिछे बुक
गंभीर मरम वेदना

यानी, मुझसे गाने के लिए मत कहो। यह सिर्फ हंसी-खेल या आनंद का मेला तो नहीं है—झूठी छलना भी नहीं है। यह तो नयनों का नीर है, निराशा की लम्बी सांस है, कलंक की कहानी है, दरिद्र की आशा है, यह तो मर्मस्थल की गहराई से छाती फाड़कर सुलगती हुई व्यथा है।

स्वदेशी भाषा

यह तो सच है कि बंगाल तथा सारे भारत में जिन लोगों के मन में पराधीनता का बोध पहले-पहल जागृत हुआ था, उनमें से अधिकांश अंग्रेज़ी के विद्वान थे। उस समय अंग्रेज़ी पढ़ना, अंग्रेज़ी में बोलना-लिखना और खासकर अंग्रेज़ी में भाषण करना बहुत ही गर्व तथा गौरव का विषय माना जाता था। इनमें से बहुतेरे बातचीत, रंग-ढंग, वेशभूषा और खान-पान में भी अंग्रेज़ों का अनुकरण करते थे। वे शायद सोचते थे कि इस तरह अंग्रेज़ बनकर वे राजा की जाति में शामिल हो जाएंगे।

पर रवीन्द्रनाथ ने अपनी देशसेवा की भावना में मातृभाषा को महान स्थान दिया था। वह समझ गए थे कि बंगाल के हिंदू-मुसलमानों को बंगला-भाषा ने एक सूत्र में बांध रखा है। वह मानते थे कि अपने देश पर स्वयं अपना शासन हो, यही स्वाधीनता का चरम लक्ष्य नहीं है; जिस देश का हम हृदय के मर्म से तथा शरीर के कर्म से निर्माण न करें, वह अपना नहीं हो सकता। देश की असली मुक्ति तभी होगी, जब देश के सारे मनुष्य बिना किसी बाधा के आत्मप्रकाश कर सकें; और आत्माभिव्यक्ति मातृभाषा के माध्यम से ही हो सकती है।

उन्होंने सन् 1892 में 'शिक्षार हेर-फेर' नामक एक निबंध लिखा था, जिसमें उनका प्रमुख वक्तव्य यह था कि जिस प्रकार मां के दूध से शिशु का शरीर पुष्ट होता है, उसी प्रकार मातृभाषा के द्वारा ही मन की पुष्टि तथा विकास सम्भव है। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि बंगाल में बंगला ही शिक्षा का माध्यम हो।

सन् 1897 में नाटोर में बंगाल के प्रादेशिक सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। रवीन्द्रनाथ ने प्रस्ताव रखा कि अधिवेशन का सारा कार्यक्रम बंगला में ही हो, ताकि सबकी समझ में आए। 'घरोया' (घरेलू) नाम की एक पुस्तक में अवनीन्द्रनाथ ने इस घटना का सुंदर वर्णन किया है :

'हम कम उम्र वाले लोग रवि चाचा के दल में थे। हम लोगों ने कहा, चाहे जैसे हो, ऐसा ही होना चाहिए। इस बात पर बड़े बुजुर्गों से झड़प भी हो गई। वे किसी भी तरह उनकी बात मानने को तैयार नहीं थे। बुजुर्गों का कहना था कि जिस तरह कांग्रेस में सभी भाषण आदि अंग्रेज़ी में होते हैं, प्रादेशिक अधिवेशन में भी उसी प्रकार होने चाहिए। वहां जो भी भाषण देने खड़ा होता, हम एक साथ चिल्ला उठते—बंगला, बंगला।'

पर अंत तक बड़ों ने रवीन्द्रनाथ का प्रस्ताव नहीं माना। इसके दो साल बाद जब ढाका में फिर अधिवेशन हुआ, तो एक बड़ी मजेदार बात हुई। सभापति रेवरेण्ड कालीचरण बन्द्योपाध्याय के अंग्रेज़ी-भाषण का सारांश रवीन्द्र बड़ी सरल और सुगम बंगला में अबाध गति से बोलते गए। इसके बाद से धीरे-धीरे इस प्रकार की सभा-समितियों में बंगला का प्रचलन होता गया।

देशप्रेम की भावना

रवीन्द्रनाथ ने केवल मातृभाषा का ही झंडा ऊंचा किया हो, ऐसी बात नहीं। रवीन्द्र ने देश-प्रेम की भावना जगाने के लिए कलकत्ते में स्वदेशी भंडार खोले। कुष्ठिया में बहुत बड़ा देशी कारबार खुल गया। इन दिनों (1892-1900) के उनके लेखों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि वह देश की तमाम समस्याओं पर गम्भीर चिंतन कर रहे थे। जनसाधारण के प्रति जमींदारों की उदासीनता, और अंग्रेज़ी शासन के दुष्प्रभाव आदि विषयों पर वह लिखते रहे, भाषण करते रहे और आंदोलन चलाते रहे।

गांवों को समझने के लिए एक ओर वह देहात में प्रचलित गीतों तथा पदों का संग्रह करते रहे और दूसरी ओर देशप्रेम का भाव जगाने के लिए भारतीय इतिहास की गौरवपूर्ण कहानियों पर कविताएं लिखते रहे, जो बाद में 'कथा' नामक काव्य-ग्रंथ में संकलित हुईं। इतिहास का आदि स्रोत खोजने के लिए वह तपोवनों के भारत और उपनिषदों के युगों को भी टटोलने लगे। इस अनुसंधान के फलस्वरूप, 'नैवेद्य' नामक काव्य की सृष्टि हुई और शांतिनिकेतन में ब्रह्म-विद्यालय की स्थापना हुई। यह विद्यालय भी 'नैवेद्य' का ही वाह्य प्रकाश था। अब रवीन्द्रनाथ की देशभक्ति-संबंधी साधना के बारे में थोड़ा विचार किया जाए।

स्वदेशी समाज

शुरू से ही यह बात स्पष्ट है कि सामयिक क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण कई आंदोलनों में रवीन्द्रनाथ कुछ-न-कुछ शामिल रहे, फिर भी उन्होंने सक्रिय राजनीति में भाग लेने के बजाय देश की मूल समस्याओं पर ही गहराई से चिंतन किया था। उन्होंने बार-बार यह कहा कि भारतीय संस्कृति में समाज का स्थान जनसाधारण के लिए राष्ट्र से बढ़कर रहा है। ग्रामीण समाज का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि देश तथा जाति के प्राण देहातों में ही बसते हैं। खेती-बाड़ी का काम यदि ठीक से चलाया जाए,गांव की उपेक्षित शिल्प-कलाओं में यदि फिर नए ढंग से प्राण-संचार किया जाए और परस्पर मिलकर, आत्मशक्ति पर निर्भर रहकर, गांव के लोग जमाने के साथ बढ़ सकें, तो देश कभी पिछड़ा हुआ नहीं रह सकता।

1904 ईसवी में कलकत्ता की एक सभा में उन्होंने 'स्वदेशी समाज' नामक अपने निबंध में ग्रामोत्थान की एक ऐसी ही योजना प्रस्तुत की।

स्वदेशी आंदोलन

इसके अगले साल (सन् 1905 में) बंगाल में बंग-भंग आंदोलन शुरू हुआ। तत्कालीन बड़े लाट लार्ड कर्ज़न ने तय किया कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा को मिलाकर छोटे लाट के शासन में जो प्रदेश था और चीफ कमिश्नर के शासन में जो असम प्रदेश था, उन दोनों को दो छोटे लाटों के शासन में ला दिया जाए—एक बंगाल हो, जिसका केन्द्र कलकत्ता हो और दूसरा पूर्वी बंगाल और असम हो, जिसका, केन्द्र ढाका हो। उनका कहना था कि इसके बिना कलकत्ता से नोआखाली, चटगांव आदि दूरस्थ ज़िलों का शासन-कार्य अच्छी तरह नहीं चलाया जा सकता। हो सकता है कि इस व्यवस्था से प्रशासन का कार्य कुछ अच्छी तरह चल पाता, पर इससे मातृभूमि बंगाल दो हिस्सों में बंट जाती—हिन्दू-मुसलमानों में विरोध का बीज पड़ जाता। बंगाली बुद्धिमान निकले। वे देश के हित की दृष्टि से विचार कर सकते

थे—मौका पड़ जाए, तो अंग्रेज प्रभुओं को भी खरी-खरी सुनाने से नहीं चूकते थे। बंगालियों की एकता को नष्ट करने का एकमात्र-उपाय बंगाल को टुकड़ों में बांट देना था। एकता समाप्त होते ही बंगाली कमजोर हो जाते और अंग्रेज़ निष्कण्टक राज्य करते, यही इसका मूल तत्व था।

विभाजन की बातें सुनकर सारे बंगाल ने एक स्वर से विरोध किया—बंगाल हमारा है। बंगला हमारी मातृभाषा है। विदेशी हममें अलगाव पैदा करेंगे, हम ऐसा कभी नहीं होने देंगे।

शान्तिनिकेतन के विद्यालय का काम छोड़कर रवीन्द्रनाथ कलकत्ता चले आए। लोगों में स्वदेशी आंदोलन की प्रेरणा भरने के लिए, कवि उनके बीच आ गए। सारे बंगाल को एक सूत्र में बांधने के लिए रवीन्द्रनाथ ने नए ढंग से राखी बांधने का उत्सव चालू किया। फिर एक गीत रचकर उन्होंने सारे देश को अनुप्रेरित कर दिया।

तय हुआ कि राखी बांधने के दिन सवेरे कलकत्ते की सड़कों पर पैदल जुलूस निकले। रवीन्द्र सबसे आगे रहेंगे। सड़क के दोनों ओर मकानों की छत से लेकर फुटपाथ तक जन-समुद्र लहराने लगा। महिलाएं लावा बरसाने लगीं, शंखध्वनि करने लगीं। ज़ोर की तैयारी थी। जुलूस गीत गाते हुए बढ़ चला :

बांगलार माटी, बांगलार जल,
बांगलार वायु, बांगलार फल
पुण्य हउक, पुण्य हउक, हे भगवान ।।

यानी, बंगाल की मिट्टी, बंगाल का पानी, बंगाल की वायु, बंगाल का फल, पुण्य हो, हे भगवान !

सभी एक-दूसरे के हाथ में राखी बांधने लगे। हिन्दू-मुसलमान, गरीब-अमीर, कोई नहीं छूटा।

तीसरे पहर बाग़ बाज़ार में विराट् सभा हुई। गाना गाते हुए जुलूस गंगा-किनारे से लौट आया :

विधिर बांधन काटबे तुमि
एमन शक्तिमान।
आमादेर भांगा गड़ा तोमार हाते
एमन अभिमान।

यानी, विधि के बनाए हुए प्रेम-बंधन को काट सकोगे, तुमने अपने को इतना शक्तिमान समझ लिया है ? हमें बनाना-बिगाड़ना तुम्हारे हाथ में है, यह तुम्हारा व्यर्थ अभिमान है।

सभा-मण्डप में एक बड़ा-सा टिन का सन्दूक रखा था। उस पर सफेद रंग से बड़े-बड़े अक्षरों में 'मातृभण्डार' लिखा था। रवीन्द्र के अनुरोध पर इस राष्ट्रीय कोष में उस एक सभा में ही पचास हजार रुपये से भी ज्यादा चंदा इकट्ठा हो गया।

प्रायश्चित

जो लौ राह दिखाती है, वही आग बनकर राख भी बना सकती है। रवीन्द्रनाथ ने सोचा था कि देश की नींव का निर्माण करने के काम में यदि और कोई न आए, तो नौजवान जरूर उत्साहित होकर आगे आएंगे और हाथ बटाएंगे। उनकी यह आशा पूरी न हो पाई। उन्होंने देखा कि बंगाली नौजवान निराश होकर क्रांतिवाद के जौहर-व्रत में आत्माहुति देने के लिए दौड़ पड़े।

उन दिनों जोश से भरे हुए लोगों ने उन्हें गलत समझा। रवीन्द्रनाथ ने बार-बार कहा कि गांवों के मंगल में ही जनता और देश की भलाई है। गांवों को अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ेगा। देश की भलाई के लिए ही हिन्दू-मुसलमानों के बीच मित्रता स्थापित करनी पड़ेगी। केवल विदेशी शक्ति का विरोध करने से या असहयोग-मात्र से काम नहीं बनने का। पहले आपसी विरोध समाप्त करके, सहयोग का वातावरण तैयार करना पड़ेगा, नहीं तो कुछ नहीं होगा।

1908 ईसवी में पाबना में प्रादेशिक सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। इस बार रवीन्द्रनाथ अध्यक्ष चुने गए। अपने उसी स्वदेशी समाज वाले निबंध को दुहराकर उन्होंने फिर लोगों के मन को गांवों की ओर खींचने की कोशिश की। पहली बार अध्यक्षीय भाषण मातृभाषा में हुआ। पर उस ज़माने में इसे सुननेवाला कौन था? मजबूरन वह खुद अपनी ज़मींदारी पतिसर-कालिग्राम के इलाके में परिकल्पित स्वदेशी समाज गढ़ने की कोशिश करने लगे।

उस समय मुजफ्फरपुर में अंग्रेजों को मारने के लिए बम फेंका जा चुका था। देश-भर में उस उत्तेजना के कारण रवीन्द्रनाथ की वाणी दब-सी गई। अहिंसात्मक असहयोग के जिस आदर्श को उन्होंने 'प्रायश्चित' (1909) नाटक में धनंजय बैरागी के चरित्र में विकसित किया, उसका मर्म समझने वाले लोग उस ज़माने में कहां थे? धनंजय असामियों से जो-कुछ कहता है, वही देशवासियों और राजा से रवीन्द्रनाथ कहना चाहते थे—जिस अन्न से प्राण-रक्षा होती है, उसी से देवता का भोग लगता है, क्योंकि वह प्राणों का देवता है। प्राण-रक्षा के बाद जो बच जाता है, वह राजा को अर्पित करता हूँ। पर प्राण-देवता को छलकर राजा का लगान नहीं दिया जा सकता।

पर अभी तक देश तैयार नहीं हुआ था। इसके कम-से-कम बारह साल बाद राजनीति के घुमावदार रास्ते से असहयोग-आंदोलन आया।

सामाजिक आवेग और उत्तेजना से टकराकर रवीन्द्रनाथ की स्वदेश सेवा पीछे हट गई। अब उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि देशवासियों के मन को सत्य की ओर खींचने का एकमात्र उपाय शिक्षा ही है।

गृह-विद्यालय

रवीन्द्रनाथ ने अपनी स्वदेश-चिन्ता में शिक्षा की समस्या को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। शिक्षा के संबंध में उनका पहला लेख, 'शिक्षार हेर-फेर' यानी शिक्षा में परिवर्तन, 1892 ईसवी में प्रकाशित हुआ था। इस संबंध में मूल तत्व यह था कि देश को शिक्षित करने के लिए मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देनी होगी। मातृभाषा के माध्यम से उन्होंने बहुत ही थोड़ी उम्र में विविध विषयों की जानकारी प्राप्त की थी। वह अच्छी तरह समझते थे कि अज्ञात-अनात्मीय भाषा के ज़रिए शिक्षित होने की चेष्टा बालकों के लिए कितनी कठिन है।

शिक्षा को मातृभाषा के ज़रिए देकर, सहज-सरल करना पड़ेगा। साथ ही, शिक्षा प्राप्त करने का स्थान, सुन्दर, सामाजिक तथा प्राकृतिक रूप के अनुकूल वातावरण में ही होना चाहिए। रवीन्द्रनाथ ने अपने बच्चों को कलकत्ता के किसी स्कूल में नहीं भेजा था। नार्मल स्कूल तथा ओरिएण्टल सेमिनरी की कैदियों-जैसी ज़िन्दगी को वह कभी नहीं भूल पाए थे।

बेला, रथी, रानी, मीरा और शमी इन पांच बच्चों के साथ मृणालिनी देवी ने 1898 ईसवी में कलकत्ता छोड़ दिया और शिलाईदह में आ बसीं। उन दिनों बेला की उम्र बारह साल की थी और शमी की दो साल। इन्हें लेकर रवीन्द्रनाथ ने कोठी में एक विद्यालय की स्थापना की। तय हुआ कि यह खुद बंगला पढ़ाएंगे और शिवधन विद्यार्णव संस्कृत पढ़ाएंगे। विलयम लारेंस नाम के एक अंग्रेज़ अंग्रेज़ी पढ़ाएंगे और ज़मींदारी के ही एक कर्मचारी जगदानन्द राय सुविधानुसार गणित तथा विज्ञान पढ़ाएंगे।

उस समय रवीन्द्रनाथ 'कथा ओ काहिनी' की कविताएं लिख रहे थे। बेला तथा रथी की बंगला की पढ़ाई इन्हीं कविताओं से शुरू हुई। कथित शिशु-पाठ्य की समस्त अपाठ्य पुस्तकों का उन्होंने वर्जन कर दिया। उन्हें यह मालूम हो गया था कि बचकानी शिक्षा से बच्चों का निर्माण नहीं होता। यदि शिक्षा की विषय-वस्तु को श्रद्धा के साथ बच्चों के सामने रखा जाए और उसे अच्छी तरह से समझा दिया जाए, तो वे तुरन्त ही उसका बहुत-कुछ ग्रहण कर सकते हैं। कुछ शायद उनके मन के अवचेतन में रह भी जाए। केवल रटने वाली पढ़ाई से यह नहीं हो सकता।

'कथा ओ काहिनी' की कविताओं के अलावा, बच्चे रामायण-महाभारत की कहानियां भी पढ़ते थे। मूल संस्कृत महाकाव्य का रसास्वादन कराने के लिए रवीन्द्रनाथ ने मृणालिनी देवी से कहा कि तुम संस्कृत सीखकर बाल्मीकि-रामायण के कुछ हिस्सों का बंगला में अनुवाद करके बच्चों को सुनाया करो। उनके भतीजे सुरेन्द्रनाथ अक्सर कुष्ठिया में स्वदेशी कारोबार

की देखभाल के लिए आया करते थे। उन्हीं से रवीन्द्रनाथ ने महाभारत का बालोपयोगी अनुवाद करवाया। बाद में इसी को संक्षिप्त करके रवीन्द्रनाथ ने अपने ढंग से 'कुरु-पांडव' के रूप में लिखा।

उन दिनों शिलाईदह में रवीन्द्रनाथ के कई गुणी मित्रों का आना-जाना होता था। उनमें-से इतिहासकार अक्षय कुमार मैत्रेय, वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु, कवि तथा नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय, नाटोर के महाराजा जगदिन्द्रनाथ राय, सिविलियन लोकेन पालित आदि से बच्चों को बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त हो जाती थी।

हेमन्तकाल में कोठी को छोड़ कर, पद्मा नदी के किसी सुनसान तट पर बोट बांधकर, उसी में रहा जाता था। मीलों तक जगमगाती रेत, कहीं ऊंची, कहीं नीची लहराती हुई तट-भूमि पर यों ही घूमते-घूमते किसी एक मोड़ पर झाऊ की छोटी-छोटी झाड़ियों के पास किसी विस्तृत ढाल पर पानी इकट्ठा हो जाने से बन गया कुण्ड और उस पर आश्रय लिए हुए हज़ारों जंगली बत्तखें, आसपास की झाड़ियों में जंगली सूअरों का झुंड, रात में रह-रह कर भेड़ियों की सुनाई पड़ती आवाज़ और चारों ओर पद्मा के कछुए! बड़ा ही दिलचस्प दृश्य होता था।

छुट्टियों में अक्सर जगदीशचन्द्र आया करते थे। उन्हें पाकर बच्चे खुशी से फूले नहीं समाते थे। उनकी हँसी पद्मा के फैले हुए तटों की तरह उन्मुक्त होती थी। बच्चों के साथ दोस्ती जमा लेने में वह एक नम्बर के उस्ताद थे। देश-विदेश और विज्ञान की कहानियां वह बड़े रोचक ढंग से कहते। उन्हें बच्चों के साथ दौड़-धूप खूब पसन्द थी। कभी-कभी कछुओं के अंडे खोजने का खेल होता था। कभी कड़ी धूप में रेत पर गड्ढे खोदकर सूर्य-स्नान होता। वह बड़ी मज़ेदार चीज़ होती थी। सिर पर गीला गमछा रख कर उस गड्ढे में सो जाते। गीली रेत से धूप के कारण भाप निकलती रहती थी और ऐसा लगता था कि उस भाप से सारा शरीर सीझ रहा हो। काफी देर तक सीझने के बाद तुरन्त निकलकर बगल में नदी के ठिठुरन-भरे पानी में छलांग लगाकर स्नान होता था।

कुण्ड पर हज़ारों जंगली बत्तखें होती थीं। एक दिन भोर में एकाएक बंदूक की आवाज़ सुनाई पड़ी—धांय-धांय। आर्त स्वर से चीत्कार करते हुए बत्तखों का एक झुंड ज़मींदार साहब के बजरे के ऊपर से होता हुआ उड़ गया। रवीन्द्रनाथ उस समय डेक-चेयर पर बैठे सूर्योदय का आनंद ले रहे थे। बंदूक की आवाज़ सुनकर वह चौंक पड़े। उनकी दोनों आंखें भीग उठीं। हुक्म पाकर तपसी माझी छोटी नाव लेकर शिकारी को पकड़ने के लिए रवाना हो गया।

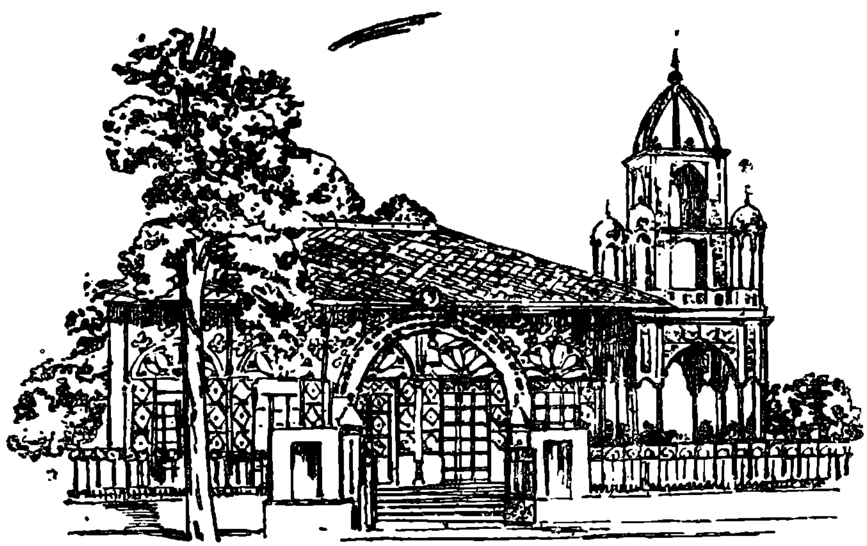
अपराधी और कोई नहीं, स्वयं उस इलाके के दारोगा साहब थे। छुट्टी के दिन नाव पर जंगली बत्तखों का शिकार करने निकले थे। नाव के बीचों-बीच गोली से घायल तीन-चार बत्तखें पड़ी थीं। दारोगाजी हाथ जोड़कर सामने हाज़िर हुए। जमींदार साहब की भौंहें

तनी हुई थीं, होंठ भिचे हुए थे। वह अन्दर चले गए। बेचारे को क्या पता था कि ठाकुर-परिवार के इलाके में चिड़िया मारना मना है।

नैवेद्य

इन्हीं दिनों (1898-1901) रवीन्द्रनाथ अकेले ही कई काम कर रहे थे—ज़मींदारी का काम तो था ही, उसके अलावा साहित्य की विभिन्न रचनाएं, गृह-विद्यालय, देश-सेवा और स्वदेशी कारबार की देखभाल भी।

इन अविश्रान्त कर्म-चंचल-व्यस्त दिनों में ही वह 'नैवेद्य' की कविताएं लिख रहे थे। एक के बाद दूसरी कविताओं में उनके तत्कालीन मनोभावों का बड़ा सुन्दर प्रतिफलन हुआ है। देश के लिए लज्जा, व्यथा, आशा और साथ ही उसकी गम्भीर धर्म-चेतना, जिसके मूलस्रोत उपनिषद्-ग्रंथ थे और जिसका प्रकाश उन्होंने कल्पना के तपोवन में देखा था, ये सब उन कविताओं में स्पष्ट हैं।



शान्तिनिकेतन-मंदिर

उनके आदर्श तपोवन के साथ बचपन के बाधाहीन छुट्टियों वाले शान्तिनिकेतन ने भी कहीं स्थान जमा लिया था। पहले ही कहा गया है कि सन् 1882 में महर्षि ने अपने इस तपोस्थान को जनसाधारण को समर्पित कर दिया था। शान्तिनिकेतन की उसी दुमंज़िली

कोठी को केन्द्र बनाकर शान्तिनिकेतन-आश्रम बना। समर्पण के चार साल बाद आश्रम में एक उपासना-मन्दिर भी तैयार हुआ। हर साल महर्षि की दीक्षा के दिन (पौष 7 को) आश्रम में धर्म-मेला लगने लगा। महर्षि वृद्ध हो गए थे, अब वह पहले की तरह घूम नहीं सकते थे। फिर भी, पार्क स्ट्रीट के डेरे में बैठकर वह सदा ही खोज-खबर लेते रहते और शान्तिनिकेतन के खास आदमियों से कहा करते :

—मैं शान्तिनिकेतन में एक मंदिर की स्थापना कर गया। इस मंदिर के शिखर पर, ओंकार ही हमारा प्रतिनिधि बनकर साक्षी रहेगा—'एकं ब्रह्मास्तीति।

1900 ईसवी के वार्षिक उत्सव में महर्षि ने रवीन्द्रनाथ को बुलाकर कहा कि इस बार तुम आचार्य की वेदी पर आसीन हो जाओ और शान्तिनिकेतन मंदिर में उपासना खुद करो।

दूसरे साल 'नैवेद्य' प्रकाशित हुआ। कवि ने इस पुस्तक को पितृदेव के श्रीचरणों में समर्पित किया :

पितृरूपे रयेछेन तिनि, पितृमाझे
नमि तांरे।

यानी, पिता के रूप में पिता के बीच जो हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूं।

महर्षि ने अपने जीवन में उपनिषद् के जिस महान सत्य को प्रकाशित करना चाहा था, उसे रवीन्द्रनाथ ने 'नैवेद्य' की कई कविताओं में उदात्त एवं मधुर शब्दों में लयबद्ध कर दिया :

हे सकल ईश्वरेर परम ईश्वर,
तपोवन-तरुच्छाये मेघमन्द्रस्वर
घोषणा करियाछिल सबार उपरे
अग्निते, जलेते, एइ विश्व चराचरे,
वनस्पति ओषधिते एक देवतार
अनन्त अक्षय ऐक्य। से वाक्य उदार
ऐइ भारतेर।

यानी, हे सकल ईश्वर के परमेश्वर, तपोवन की तरुच्छाया में मेघमन्द्र स्वर से घोषणा हुई थी कि सबसे ऊपर, अग्नि में, जल में, उस विश्व चराचर में, वनस्पति और औषधि में एकेश्वर-वाद का अनन्त और अक्षय ऐक्य है। यह उदार वाणी भारत की ही है।

रवीन्द्रनाथ ने जब प्राचीन तपोवन के आदर्श पर शान्तिनिकेतन के आश्रम में एक विद्यालय स्थापित करने की इच्छा प्रकट की, तब महर्षि ने इस प्रस्ताव का हार्दिक अनुमोदन किया और पुत्र को आशीर्वाद दिया।

22 दिसम्बर 1901 (पौष 7) को स्कूल से भागनेवाले उसी लड़के के हाथों एक नए स्कूल की नींव पड़ी। स्कूल का नाम रखा गया ब्रह्मचर्याश्रम। इने-गिने ब्रह्मचारियों को लेकर विद्यालय का सूत्रपात हुआ। इन्हीं में एक रवीन्द्रनाथ भी थे। सत्येन्द्रनाथ आचार्य बनाए गए। रवीन्द्रनाथ ने लाल पटाम्बरधारी बालकों को उपदेश दिया और इस उपलक्ष में उनका ब्रह्म-संगीत गाया गया—

मोरा सत्येर परे मन
आज करिब समर्पण
जय-जय सत्येरइ जय।

यानी, हम सत्य पर आज मन समर्पित करेंगे। जय-जय, सत्य की जय!

आश्रम

अब शान्तिनिकेतन आश्रम के बारे में दो-चार बातें। महर्षि ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थ ही थे। उनके पिता की मृत्यु के बाद जोड़ासांको के ठाकुर-परिवार पर जो संकट आया था, उसके बारे में पहले ही बताया जा चुका है। उन्होंने कौशल से गृहस्थी का संचालन करके उस संकट से परिवार की रक्षा की। इन्हीं कामों को पूरा करने में वह करीब चालीस के हो गए। इस समय गृहस्थी से दूर जाकर, ईश्वर चिन्तन में लीन होने के लिए उन्हें व्याकुलता का अनुभव हुआ। उन दिनों वह अक्सर जल तथा स्थल के मार्गों से बंगाल तथा उससे बाहर भ्रमण के लिए जाते रहते थे। हिमाचल प्रदेश उनकी साधना के लिए उपयुक्त स्थान था। इसीलिए शिमला, डलहौज़ी में उनका अधिकांश समय बीतता था। महीनों इसी तरह साधना चलती रहती। धीरे-धीरे उनका हृदय ब्रह्मानंद से पूर्ण हो उठा। अब उन्होंने सोचा कि इस आनंद को अकेले ही भोगना उचित नहीं। इस आनंद को सबमें बांटना पड़ेगा। वह बंगाल लौट आए और साधना के उपयुक्त कोई निर्जन स्थान खोजने लगे।

वीरभूमि ज़िले के रायपुर गांव में सिंह परिवार के कई व्यक्ति महर्षि के भक्त थे। श्रीकण्ठ बाबू की बात पहले ही बताई गई है। सिंह परिवार के आमन्त्रण पर बोलपुर शहर से करीब दो मील दूर, अपनी ज़मीदारी में ही, एक ऊंची जगह पर महर्षि ने शायद पहली बार 1861 में, यानी रवीन्द्रनाथ के जन्म के वर्ष ही, पहले-पहल कदम रखा था।

कभी इस इलाके में खेती-बाड़ी या बस्ती थी, ऐसा नहीं लगता था। विशाल बंजर! वहां के लोग ऐसी परती ज़मीन को ब्रह्म-डांगा कहते थे। वृक्षहीन, तृणहीन इलाके में केवल दो सप्तपर्ण के पेड़ छाया पसार कर खड़े थे। वहीं महर्षि की पालकी रुक गई। पेड़ की उसी छाया में बैठकर उनके प्राण शीतल हुए। उनका मन आनन्द से भर उठा। सामने धूप से

जगमगाता हुआ मैदान, ऊपर फैला हुआ अनन्त आकाश और पश्चिम दिगन्त में अस्तगामी सूर्य की अरुणाभा ! एक गम्भीर शान्ति जैसे धीरे-धीरे धरती पर उतर रही थी। महर्षि का मन ईश्वर चिंतन में तल्लीन हो गया। उनका हृदय बोल उठा—

तिनि आमार प्राणेर आराम
मनेर आनन्द
आत्मार शान्ति ।

यानी, ब्रह्म हमारे प्राण का विश्राम, मन का आनन्द तथा आत्मा की शान्ति है।



सप्तपर्ण वृक्षों की छाया में

उन्होंने तुरन्त ही मन में ठान लिया कि यही उनका शान्तिनिकेतन होगा। सिंह परिवार से करीब बीस बीघा ज़मीन लेकर उन्होंने एक दुमंजिला मकान इसी मैदान में तैयार कराया। उस मकान का नाम शान्तिनिकेतन रखा गया। उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से सामान तथा पुस्तकों से मकान सजा दिया, जिससे अतिथिगण सुविधापूर्वक ध्यान तथा पठन-पाठन कर सकें। जंगलों की मिट्टी लाकर फल-फूलों का बगीचा तैयार किया गया। महर्षि अक्सर इस तपोवन में आते और धार्मिक मित्रों के साथ आनन्द से दिन बिताते। शरीर जीर्ण होने पर कलकत्ता से बाहर जाना उनके लिए असम्भव हो गया; फिर भी शान्तिनिकेतन के प्रति उनकी ममता बनी रही। विश्व के सृष्टा, विश्व-पिता, एक और अद्वितीय परमेश्वर की

आराधना के लिए तथा विश्वबन्धुत्व बढ़ाने के लिए यहां पर उन्होंने एक मन्दिर की प्रतिष्ठा की। इसके बाद उन्होंने एक न्यासपत्र बनाकर यह आश्रम सर्वसाधारण के लिए अर्पित कर



शान्तिनिकेतन

दिया। इस पत्र में यह भी लिखा था कि आश्रम-धर्म की उन्नति के लिए शान्तिनिकेतन में विद्यालय तथा पुस्तकालय की स्थापना की जा सकती है। रवीन्द्रनाथ ने ब्रह्म विद्यालय की प्रतिष्ठा की, तो महर्षि की आन्तरिक इच्छा पूर्ण हो गई।

ब्रह्म विद्यालय

महर्षि की अनुमति लेकर रवीन्द्रनाथ ने जब विद्यालय की स्थापना की थी, तब उसका जो रंग-रूप था, आज उसकी कल्पना करना भी मुश्किल है।

आश्रम का क्षेत्रफल बीस बीघा था, यह तो पहले ही कहा जा चुका है। उसके बीचों-बीच शान्तिनिकेतन कोठी और उत्तर में प्रायः सामने ही मंदिर, उत्तर-पश्चिम के कोने में छातिमतला, दक्षिण-पश्चिम के कोने में छोटा-सा तीन कमरेवाला एक पक्का मकान और दक्षिण में कतार में सज्जित शाल-वृक्ष और इसके पूरब में तालाब खोदने से कटी हुई मिट्टी का टीला! शाल-वीथि से लेकर शान्तिनिकेतन कोठी तक आम्रकुंज था। इस छोटे-से मरु-तीर्थ को घेरे थी दिगन्तव्यापी विशाल बंजर भूमि। बीच-बीच में खजूर की झाड़ियां और बजरी के खड्ड थे।

विद्यालय स्थापना के बाद विज्ञानागार तथा पुस्तकालय का निर्माण हुआ। दक्षिण-पश्चिम के कोने के एक छोटे-से कमरे में रवीन्द्रनाथ ने अपनी किताबें लाकर सजा दीं। थोड़े बहुत विज्ञान सम्बन्धी कल-पुर्जे भी आ गए। अब छात्रावास बनाना जरूरी था, पर रुपया कहां से मिले ? पुरी के समुद्र तट पर उनका जो निजी मकान था, उसे बेच कर कुछ रुपये बने। खपड़ैलों से छाए हुए दो कमरे तैयार हुए। उनके आगे-पीछे लम्बे-लम्बे बरामदे। शाल-वीथि के समानान्तर में बने इस छात्रावास को ही बाद में 'आदि कुटीर' या 'प्राक् कुटीर' कहा जाने लगा।

तय हुआ कि इस मकान में ही अध्यापक तथा छात्र एक साथ रहेंगे। तब आदमी थे ही कितने। अध्यापकों में शिवधन विद्यार्णव, चार्ल्स लारेंस, जगदानन्द राय और रेवा चांद नाम के एक सिंधी ईसाई साधु। थोड़े दिन बाद ब्रह्मबान्धव उपाध्याय (भवानीचरण वंद्योपाध्याय) और हरिचरण वंद्योपाध्याय आए। छात्रों में थे रवीन्द्रनाथ, श्रीशचन्द्र मजुमदार के लड़के सन्तोषचन्द्र और ब्रह्मबान्धव के तीन छात्र, जो कलकत्ते से आए थे।

प्राचीन तपोवन के आदर्श पर रवीन्द्रनाथ ने तय किया कि छात्रों से शुल्क लेकर उन्हें विद्या नहीं बेची जाएगी। आचार्य लोग प्राचीन गुरुओं की तरह विद्यादान करें और अपने परिवार-पालन के लिए कम-से-कम दक्षिणा ग्रहण करें। उनमें से कोई भी परिवार साथ नहीं लाया था। सभी छात्रों के साथ रहते, उन्हीं के साथ खाते। पर खर्च चाहे कितना ही कम हो, बिना पैसे के तो काम चलने का नहीं था। रवीन्द्रनाथ केवल दो सौ रुपये जमींदारी से पाते थे। पुरी का मकान तो बिक ही चुका था। अब उन्होंने मृणालिनी देवी के ज़ेवर गिरवी रख कर कुछ रुपये प्राप्त किए। मित्रों से बीच-बीच में कर्ज़ भी लेना पड़ा।

रवीन्द्रनाथ ने शायद सोचा था कि प्राचीन काल के आदर्श से यदि निःस्वार्थ रहकर विद्यालयों का निर्माण हो, तो सर्वसाधारण तथा धनी-वर्ग स्वयं सहायता देंगे। प्राचीनकाल में विद्यालय तो इसी तरह चलते थे। पर इस ज़माने में ऐसा नहीं होता। मजबूरन करीब दो साल बाद तय हुआ कि छात्रों से खाने-पीने के खाते में कुछ पैसे लिए जाएं। कहना न होगा कि उस थोड़ी-सी रकम से छात्रावास वाले विद्यालय का खर्च चलना असम्भव था। इससे पहले दोनों भतीजों की देखभाल में कुष्ठिया का जो स्वदेशी कारोबार चालू किया गया था, वह बैठ गया। इसके कारण भी रवीन्द्रनाथ के सिर पर भारी कर्ज़ आ पड़ा। अब उस कर्ज़ के साथ ही विद्यालय के लिए पैसे इकट्ठा करना भी जरूरी हो गया। कर्ज़ का बोझ बढ़ता ही गया।

एक महान आदर्श के लिए गरीबी स्वीकार करना बहुत कठिन नहीं है, पर यदि अचानक मौत आकर पके फलों के साथ कली को भी झाड़ दे, तो यह आघात सहना बड़ा कठिन होता है। विद्यालय की स्थापना के समय से ही रवीन्द्रनाथ के जीवन में एकाएक मौतों का वार शुरू हुआ। विद्यालय की स्थापना का वर्ष पूरा होने के पहले ही पत्नी मृणालिनी देवी चल बसीं। केवल तेरह साल की उम्र में ही, माता की मृत्यु के छः महीने बाद मझली लड़की रानी

भी चल बसी। उसके अगले वर्ष, 1904 में भयानक चेचक में पुत्र के समान प्रिय सतीशचन्द्र राय भी चले गए। यह आदर्शवादी तरुण शिक्षक अपना जीवन गुरुदक्षिणा की तरह चुका गए—वह जीवन, जो अपार सम्भावनाओं से पूर्ण था। सतीश की अकाल मृत्यु से रवीन्द्रनाथ के मन पर ऐसी गहरी चोट पहुंची कि वह कुछ दिनों के लिए अपना विद्यालय शिलाईदह उठा ले गए।

छ: महीने बाद गर्मी की छुट्टी बीतने पर विद्यालय फिर आश्रम में लौटा लाया गया। 1905 के आरम्भ में ही रवीन्द्रनाथ के गुरु तथा पिता, महर्षि का कलकत्ता में देहान्त हो गया। सबसे बड़ा आघात उन्हें 1907 के आखिर में लगा। मृणालिनी देवी की मृत्यु के समय उनका छोटा लड़का शमीन्द्र केवल 6 वर्ष का था और मां का अभाव बाप को ही पूरा करना पड़ा था। 'शिशु' नामक कविता-पुस्तक की सुन्दर कविताएं शमी के लिए ही लिखी गई थीं। लोग कहते थे कि बेटा शक्ल-सूरत, चाल-ढाल और हस्तलिपि, विशेषत: कविता की आवृत्ति में बाप जैसा ही था। यही लड़का मुंगेर में किसी मित्र के घर घूमने गया था। वहां हैजे से उसका देहांत हो गया। शमी की मृत्यु के पच्चीस वर्ष बाद लिखी गई रवीन्द्रनाथ की एक चिट्ठी में उनके मृत्यु-शोक की असहनीयता का आभास मिलता है—

> "शमी ने जिस रात अंतिम सांस ली, उसके बाद वाली रात को ट्रेन में आते समय मैंने देखा कि चांदनी से आकाश खिला जा रहा है। कहीं कुछ कमी आई है, ऐसा तो नहीं दिखाई पड़ा। मेरा मन बोला—कमी नहीं है, सबके बीच में सब मौजूद हैं, मैं भी उसी में हूं। सबके लिए हमारा काम भी बाकी है। जब तक रहूंगा, काम की वह धारा भी चलती रहेगी। मेरा साहस बना रहे, क्लांति न आए, कहीं कोई सूत्र छिन्न न हो जाए। जो हो गया, सहज रहकर उसे स्वीकार करूं। जो कुछ रह गया, उसे भी पूर्ण तथा सहज मन से स्वीकार करने में कोई त्रुटि न हो जाए।"

जब मालूम होता है कि यह पत्र अपने एकमात्र नाती नीतू की मृत्यु के बाद कन्या मीरा को सांत्वना देने के लिए उन्होंने लिखा था, तो आश्चर्य होता है।

आर्थिक कष्ट तथा मृत्यु-शोक के अलावा भी, विद्यालय के उद्योग-पर्व में रवीन्द्रनाथ को अन्य अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा था। सबसे कठिन समस्या विद्यालय के संगठन कार्य में खड़ी हो गई। कवि की कल्पना में उन्होंने जिस तपोवन का भावनात्मक रूप देखा था, उसे रचनात्मक क्षेत्र में लाने में उन्हें कई बाधाएं दिखाई पड़ीं। सबसे बड़ी बाधा शिक्षकों को लेकर थी। तपोवन की शिक्षा-पद्धति में शिष्यों का जीवन पूरी तरह विकसित हो, गुरु का यही लक्ष्य होना चाहिए। पर अच्छा अध्यापक अच्छा गुरु भी हो—यह जरूरी नहीं था। सबका दृष्टिकोण इतना व्यापक नहीं होता। शांतिनिकेतन में अध्यापन का काम लेकर आने वाले लोगों में से कइयों ने अपनी रुचि के अनुसार अलग-अलग विषयों को महत्त्व दिया। सनातनपंथी सोचते कि ब्रह्मचर्य का अर्थ उसी पुराने चतुराश्रम के युग में लौट जाना है, स्वदेशाभिमानी समझते कि विद्यालय का मुख्य उद्देश्य पश्चिमी सभ्यता के विरुद्ध अभियान

है और कोरे शिक्षक ने सोचा कि यहां पुस्तकें पढ़ाने की एक अच्छी तरकीब खोज निकालना ही मूल लक्ष्य है, जबकि अनुशासनवादी ने सोचा कि नीरस नियम-निष्ठा तथा कठोर कर्म-तत्परता द्वारा छात्रों का चरित्र-निर्माण ही विद्यालय का एकमात्र लक्ष्य है।

कई किस्म के बनाने-तोड़ने के परीक्षण-निरीक्षणों से रवीन्द्रनाथ धीरे-धीरे इन विभिन्न आदर्शों को शिक्षा के एक सार्वदेशिक आदर्श की ओर ले गए। 1907-8 के बाद से वह पूर्ण रूप से विद्यालय के कामों में लग गए तथा राजनीतिक आंदोलन का काम छोड़कर भविष्य के लिए महत्वपूर्ण नव-निर्माण में लग गए।

दिनचर्या

विद्यालय के आदिपर्व में जो शिक्षक तथा छात्र आए थे, उनमें से कई ने उन दिनों के संस्मरण लिखे हैं। उनसे पता चलता है कि महान पुरुषों के जीवन में संघर्ष या समस्याएं होने पर भी, वहां के बच्चों का जीवन सरल तथा सहज आनंद से भरपूर था।

उस युग के अन्यतम मेधावी छात्र भारत के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश सुधीरंजनदास ने अपनी पुस्तक 'आमादेर शांतिनिकेतन' में उन दिनों के जीवन का एक चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें छात्रों की दिनचर्या का एक वर्णन मिलता है। उनके वर्णन के आधार पर शांतिनिकेतन की दिनचर्या की एक झांकी देखी जाए :

वहां का दिन बहुत सवेरे से शुरू होता; गर्मी में साढ़े चार से और जाड़े में पांच बजे से। उठकर बिस्तर लपेटते हुए लड़के भगवद् स्तोत्र की आवृत्ति करते—

लोकेश चैतन्यमयाधि देव...

अंधेरे मुंह ही नित्यक्रिया समाप्त करके वे बारी-बारी से कमरे में झाड़ू लगाते। फिर, सर्दी-गर्मी, सभी मौसम में कुएं के ताजे पानी से खुली जगह में स्नान करते। स्नान के बाद पटवस्त्र तथा उत्तरीय (चादर) धारण करके छात्र प्रातःकालीन उपासना में बैठते। अपने पसन्द के किसी निर्जन स्थान पर कम्बल का आसन बिछाकर पांच-सात मिनट शान्त बैठना पड़ता था। इनमें से एकाध छात्र बजरी की कंकरियों से कोई निशाना न लगाता हो, ऐसी बात नहीं थी। एकान्त उपासना खत्म होते ही छात्र देखते कि रवीन्द्र हौले पग रखते 'देहली' नाम के मकान से शाल-वीथि से होकर आगे बढ़ रहे हैं। अब समवेत उपासना प्रारम्भ होगी। लड़के कतार में खड़े हो जाते और उनके साथ आवाज मिलाकर प्रार्थना-मंत्र का उच्चारण करते :

ओऽम पिता नोऽसि
पिता नो बोधि
नमस्तेऽस्तु...।

समवेत उपासना के बाद पटवस्त्र उतारकर, हमेशा व्यवहार में आनेवाले वस्त्र पहन, ऊपर से एक गेरुआ लबादा ओढ़, छात्र जलपान करके, फिर अपनी श्रेणियों में बैठते। आश्रम के किसी पुष्पित-पल्लवित वृक्ष की छाया में लड़के अपनी किताब-कापी लेकर, शिक्षक को घेर, अपने-अपने आसनों पर बैठ जाते। ये ही कक्षाएं थीं। उस समय रवीन्द्रनाथ स्वयं बंगला तथा अंग्रेजी भाषा पढ़ाते। भाषा और साहित्य की प्राथमिक शिक्षा सहज और आकर्षक बनाने के लिए उन्होंने कई पाठ्य-पुस्तकें भी लिखी थीं। शिक्षकों में जगदानंद राय, हरिचरण वन्द्योपाध्याय, अजितकुमार चक्रवर्ती, भूपेन्द्र सान्याल, विधुशेखर भट्टाचार्य, क्षितिमोहन सेन, नेपालचन्द्र राय, कालीमोहन घोष आदि थे। बाहर की किसी भी संस्था में इन लोगों की तरह के महान गुणी व्यक्ति काफी रकम तथा सम्मान पा सकते थे। रवीन्द्रनाथ की अनुप्रेरणा तथा दृष्टांत से उन सबने विद्यालय के कामों में अपना जीवन अर्पित कर दिया था, पूर्ण रूप से अपने को होम कर दिया था, इसलिए इनसे शिक्षा ग्रहण करना बहुत सरल था।

साढ़े दस-ग्यारह बजे के समय सवेरे की कक्षा समाप्त होती और दोपहर के भोजन का समय होता। उन दिनों निरामिष भोजन की ही व्यवस्था थी। रवीन्द्रनाथ कभी-कभी छात्रों के साथ ही भोजन करते थे। उनका कोई निश्चित स्थान नहीं था—जहां मर्ज़ी होती, वहीं बैठ जाते। छात्र व्यग्र रहते कि कब वह उनके पास बैठकर भोजन करेंगे। लड़के अपनी थाली, कटोरी, गिलास आदि खुद ले जाते और उन्हें साफ करते। भोजन समाप्त होने पर वे बारी-बारी से अतिथि-सेवा में लग जाते। दिन में सोने का रिवाज नहीं था। अपने-अपने लपेटे हुए बिस्तरों से टेक लगा कर वे शाम की पढ़ाई में लग जाते।

तीसरे पहर दो-ढ़ाई घंटे के लिए फिर कक्षाएं लगतीं।

जिस दिन ज़ोर से बारिश होती, उस दिन पढ़ाई नहीं होती, छुट्टी हो जाती और सब लड़के अध्यापकों के साथ बारिश में टहलने निकल पड़ते। वर्षा के गीत गाते हुए, वे खाई पार करके एकदम पानी में जा कूदते। बारिश खत्म होने पर सब गीले कपड़ों में ही आश्रम में लौटते और तब शिक्षक उनके लिए अदरक की चाय बना देते। गीले कपड़ों में पीते समय वह चाय अमृत-सी लगती।

दूसरे दिन, तीसरे पहर की कक्षा खत्म होने पर जलपान करके सब खेल के मैदान में दौड़ते। कई तो बगीचे बनाने में लग जाते और कई लकड़ी का काम करते। दिन का काम संध्या के उपासना-मंत्र के साथ खत्म होता—

यो देवोऽग्नो...

फिर मनोरंजन की बारी आती। संध्या के बाद पढ़ाई का दबाव नहीं था। जिनकी आवाज मीठी थी, वे 'दिनदा', यानी दिनेन्द्रनाथ से गाना सीखते। द्विजेन्द्रनाथ के इन पौत्र के बारे में रवीन्द्र ने कहा था :

सकल गानेर भांडारी
सकल सुरेर कांडारी।

यानी, सभी गीतों के रखैया तथा सभी राग-रागनियों के सागर में नाव चलाने वाले खेवैया दिनू ठाकुर हैं।

कभी-कभी रवीन्द्रनाथ लड़कों के बीच महफिल जमाकर बैठते और बना-बनाकर कहानी सुनाते जाते। लड़कों के साथ वह पहेली-बुझौवल का भी खेल खेलते। किसी-किसी दिन पंचेन्द्रियों के उत्कर्ष विचार का खेल होता। जिस रात निर्मेघाकाश अगणित तारों से जगमगा उठता, लड़के विज्ञानशाला में चले जाते। वहां जगदानन्द राय दूरदर्शक यंत्र की सहायता से ग्रह-नक्षत्रों का परिचय कराते थे।

जब-तब अभिनय भी होता था। 1907 से ऋतु-उत्सव आरम्भ हुआ। शचीन्द्रनाथ उसके संयोजक थे। दूसरे साल रवीन्द्रनाथ ने 'शारदोत्सव' लिखा। फिर बाद के चार सालों में बारी-बारी से 'मुकुट', 'प्रायश्चित', 'राजा', 'डाकघर' तथा 'अचलायतन' नाटक लिखे गए। ये नाटक प्रधानतः विद्यालय के लिए ही लिखे गए थे। वहां कोई रंगमंच नहीं था। कुछ चौकियां इकट्ठी करके एक ऊंची वेदी बनाई जाती थी। पर्दे भी नहीं थे। रंगमंच सजाने के एकमात्र उपकरण होते बच्चों के विभिन्न रंगों के पटवस्त्र।

छात्रों के कठिन अनुशासन-बंधन में रवीन्द्र की आस्था नहीं थी। उनका विश्वास था कि यदि छात्र अपने को परिचालित करने में शिक्षित हों, तो बहुत बड़ा काम बन सकता है। छात्रों की अपनी समिति का नाम 'आश्रम-सम्मेलनी' था। इस सम्मेलनी के कुछ निर्वाचित प्रतिनिधियों पर दैनिक जीवन की कई जिम्मेदारियां थीं। बोर्डिंग के अनुशासन की रक्षा, खेद-कूद, साहित्य-सेवा, पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन, संकटग्रस्त लोगों की सेवा तथा रात्रि-विद्यालय संचालन में छात्र ही अग्रणी थे। उन्हें सचमुच यह कहने का हक था—

सब काजे हात लागाई मोरा
सब काजे...।

यानी, सभी कामों में हम हाथ बंटाते हैं, सभी कामों में।

हर बुधवार को मंदिर में उपासना होती थी। निर्दिष्ट समय के पहले रवीन्द्रनाथ स्वयं घंटी बजाकर सबको उपासना के लिए बुलाते थे। कभी-कभी उनका सद्यःरचित पूजा-गीत गाकर उपासना शुरू की जाती। उस गीत का भावार्थ या उपनिषद् के किसी मंत्र की व्याख्या स्वयं रवीन्द्रनाथ करते। ये ही व्याख्यान बाद में 'शांतिनिकेतन' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। 1907-9 से सभी धर्मों के गुरुओं की स्मृति में उनके जन्म-दिवसों पर विशेष आराधना उत्सवों का प्रचलन हुआ।

शांतिनिकेतन विद्यालय के लक्ष्य तथा शिक्षा-प्रणाली पर रवीन्द्रनाथ ने कहा है :

"शिक्षा को जीवन-यात्रा का अंग स्वरूप स्वीकार करना ही इस विद्यालय का मूल लक्ष्य है।

"यहां के बालकों को विश्व-प्रकृति के साथ ज्ञान, कर्म, संगीत, ऋतु और उत्सव के माध्यम से आंतरिक रूप से संयुक्त तथा परिचित करना होगा।

"जैसे प्रकृति के साथ, वैसे ही पड़ोस के साथ भी लोगों का मेल-मिलाप होना जरूरी है।

"छात्र तथा शिक्षकों का सम्बंध सिर्फ शिक्षादान का सम्बंध नहीं है। उनमें आत्मीयता का सम्बंध होना परमावश्यक है। छात्रों में सामाजिक रीति-नीति का पालन, अतिथि-सेवा तथा व्यवहार-कुशलता भी होनी चाहिए। सभी कार्य यथासमय हों। पोशाक, आहार-विहार, घर-बार—सभी में सफाई और सौंदर्य हो। यह सब भद्रता का ही एक अंग है। लोक-व्यवहार में सज्जनता का अभ्यास पड़ जाना भी जरूरी है। अधिकार तथा दायित्व-पालन की सुविधा देने से बच्चों को यह अनुभव होगा कि स्कूल उनका ही है, वे शिक्षकों से अभिन्न हैं, उन्होंने भी विद्यालय का निर्माण किया है। सबसे जरूरी यह है कि लड़कों के शरीर तथा बुद्धि के विकास के लिए साथ-साथ प्रयास होने चाहिए।"

पचास वर्ष

1911 में रवीन्द्रनाथ पचास वर्ष के हो गए। आश्रम के लड़कों ने प्रसन्न होकर उनका जन्मोत्सव मनाया। लड़कों के सामने बोलते हुए उन्होंने कहा—आज मेरे जन्म-दिवस पर यदि तुमने मुझे अपना समझा हो, तुम्हारे जीवन के साथ यदि मेरे जीवन की गांठें जुड़ चुकी हों, तभी यह उत्सव सार्थक हो सकता है। एक दिन मैं अपने मां-बाप के घर में जन्मा था, आज उस घर के बाहर किसी और घर में मेरे जीवन को नया जन्म मिल रहा है। मेरा जीवन इस घर में कितनों के साथ बंध चुका है, इसलिए आज का उत्सव आनन्दमय है। मनुष्य का एक जन्म तो घर में होता है और दूसरा जन्म सबके बीच में होता है। यह आश्रम तुम्हारे द्विजत्व का जन्मस्थान है। तुम अपने घर में केवल घर के लड़के हो, यही जानते थे। यहां तुम अपने को सबके बीच देखते हो। तुम्हारी अपनी महानतर सत्ता की उपलब्धि आरम्भ हुई है। यही तो हमारा नव-जन्म है। जब शक्ति अपरिणत होती है, शिशु माता की गोद में रहता है और घर की चहारदीवारी में आबद्ध रहता है, तब वह जितना चलता है, उससे कहीं अधिक गिरता है। उठने और गिरने के इस द्वन्द्व के माध्यम से ही वह त्याग करना तथा दुख सहना स्वीकार करता है और साधना के द्वारा पृथ्वी पर मनुष्य के स्वच्छन्द अधिकार का क्षेत्र विस्तृत होता है।

शायद आश्रम के बालकों द्वारा मनाया गया यह उत्सव ही पचास वैशाख के उत्सव का प्रारम्भ था; दूसरे वर्ष कवि के पचास वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में सारे बंगाल की ओर से बंगीय साहित्य-परिषद ने कलकत्ता के टाउन हाल में उनका अभिनंदन किया। उस अभिनंदन समारोह के लिए सत्येन्द्रनाथ दत्त ने लिखा—

जगत कवि सभाय मोरा तोमर करि गर्व

यानी, संसार की कवि-सभा में हमें तुम पर नाज है।

इस अभिनंदन के थोड़े दिन पहले रवीन्द्रनाथ ने ब्रह्म-समाज के माघोत्सव में अपना सद्य:रचित गीत सुनाया—

जन-गण-मन अधिनायक जय हे, भारत भाग्य विधाता !

यह गीत 26 दिसम्बर 1911 को, कलकत्ता में कांग्रेस के 26वें अधिवेशन में प्रथम बार गाया गया था।

स्वतंत्र भारत के राष्ट्रीय गीत के रूप में इस संगीत से सभी सुपरिचित हैं। इन्हीं दिनों उन्होंने 'भारतवर्ष के इतिहास की धारा' निबंध में कहा था—कितनी पृथकताओं तथा वैचित्र्यों में से होकर विधाता ने भारत के इतिहास को एक महान एकता की राह पर आगे बढ़ाया है। 'भारत-तीर्थ' कविता में उन्होंने लिखा है—

दिबे आर निबे, मिलाबे मिलिबे
जाबे ना फिरे,
एइ भारतेर महामानवर
सागर तीरे।

यानी, इस भारत की महान मानवता के सागर के किनारे जो भी आएगा, वह देगा भी और लेगा भी, स्वयं मिलेगा तथा औरों को मिलाएगा भी; वह यहां से लौटेगा नहीं।

इस बीच रचित 'गोरा' उपन्यास का मूल तत्व भी यही था। रवीन्द्र की देश-सेवा संबंधी साधना को इसी तरह पूर्णता मिली।

अंग्रेजी 'गीतांजलि'

1912 का मार्च का महीना था, रवीन्द्रनाथ कुछ अस्वस्थ थे। तय हुआ कि वह इलाज के लिए जल मार्ग से इंग्लैंड जाएं। कलकत्ता के चांदपाल घाट से जहाज चलने वाला था।

निश्चित दिन कवि को विदाई देने के लिए बहुत-से मित्र-बंधु एकत्र हुए, पर जहाज उन्हें बिना लिए ही चल पड़ा। एक तो शरीर रोगग्रस्त था, फिर कलकत्ता आते ही भाषण तथा सामाजिक औपचारिकताओं से छुटकारा कहां मिलता ? यात्रा के रोज, सवेरे ही उनको चक्कर आ गया था।

डाक्टरों के आदेश पर यात्रा स्थगित करके, उन्हें विश्राम के लिए शिलाईदह जाना पड़ा। पहले का परिचित पद्मा का वही किनारा ! चैत का महीना था, आम के बौरों की खुशबू से हवा महक रही थी। संतोष के लिए एक काम हाथ में ले लिया, जिसे उन्होंने स्वयं 'अनावश्यक' बताया है। यह काम था 'गीतांजलि', 'गीतिमाल्य', 'नैवेद्य', 'खेया' आदि पुस्तकों की कविताओं का एक-एक करके अंग्रेजी में अनुवाद करना। करीब महीने-भर बाद जब उन्होंने इंग्लैंड की यात्रा की, तो एक छोटी-सी कापी करीब-करीब भर गई थी। जहाज पर भी उन्होंने दो-चार अनुवाद कर डाले।

लंदन में कवि की देखभाल की जिम्मेदारी कलाकार रोदेन स्टाइन ने खुद ले ली। कुछ साल पहले कलकत्ता में अवनीन्द्रनाथ के मकान में रोदेन स्टाइन से रवीन्द्रनाथ का परिचय हुआ था। अंग्रेज कलाकार भारतीय कवि की रचनाओं का कुछ परिचय पाने के लिए उत्सुक था। अब यह छोटी-सी कापी काम आई। दो दिन बाद कलाकार ने जब उच्छ्वासित प्रशंसा से भारतीय कवि का गुणगान किया तो कवि ने सोचा कि यह शिष्टाचार मात्र है। रोदेन स्टाइन ने वह कापी अपने मित्र और आयरिश कवि ईट्स को दी। ईट्स स्वयं गुणी और गुणग्राही थे। कुछ कविताएं पढ़कर ही वह समझ गए कि रवीन्द्रनाथ ही वह कवि हैं जिनकी वाणी सुनने के लिए सारा पाश्चात्य संसार उत्कंठित है। ईट्स के प्रस्ताव पर रोदेन स्टाइन के घर पर अंग्रेज़ी के कवियों तथा साहित्यिकों की एक गोष्ठी जमी। ईट्स ने कुछ अनुवाद पढ़कर सुनाए। रवीन्द्रनाथ भी वहां उपस्थित थे। पढ़ाई खतम हुई। सारी महफिल स्तब्ध-सी बैठी रही। अतिथियों में से कोई कुछ नहीं बोला। केवल कवि से हाथ मिलाकर सब लौट गए। दूसरे दिन एक के बाद एक पत्र आने लगे, जिनमें कवि का अभिनंदन किया गया था।

ख्यातिप्राप्त लोगों की बगल में चुपचाप जो व्यक्ति खड़े थे, वह थे भारत से लौटे हुए गोरे मिशनरी और दिल्ली के सेंट स्टीफेंस कालिज के अध्यापक, चार्ल्स फ्रायर एंड्रूज। रवीन्द्रनाथ की कविता सुनकर तथा कविवर का भव्य रूप देखकर उन्हें लगा कि जैसे प्राच्य संसार के ईसा ही कवि के रूप में आ गए हों। दूसरे दिन सवेरे रवीन्द्रनाथ के घर जाकर एंड्रूज ने कहा—मैं आपका आज्ञाकारी अनुचर हूं। मुझे आदेश दीजिए, जिससे मैं आपके कार्यों में अपना जीवन उत्सर्ग कर सकूं।

मृत्यु के दिन तक एंड्रूज अनुरक्त भक्त के रूप में कवि की सेवा में लीन रहे।

केवल एंड्रूज ही नहीं, उस गोष्ठी में उपस्थित कई लोगों ने अबाध रूप से रवीन्द्रनाथ को महाकवि के रूप में स्वीकार किया और रवीन्द्रनाथ को प्राच्य संसार का प्रतिनिधि मान लिया।

वही अंग्रेजी अनुवाद 'गीतांजलि' नाम से 1911 के अन्त में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

इस पुस्तक को लेकर पाश्चात्य मानस में एक अभूतपूर्व आलोड़न दृष्टिगोचर हुआ। व्यावहारिक विज्ञान के फलस्वरूप यंत्रों की सहायता से पश्चिम सम्पत्तिशाली हो गया है। वाणिज्य तथा साम्राज्य के विस्तार का मोह उसमें प्रबल हो गया है। एक तरफ तो जाति तथा वर्ण विद्वेष, दूसरी तरफ प्रबल लोभ और स्वार्थपरता, इन दोनों के बीच पड़कर समाज तथा साहित्य में विनाशकारी आत्मतुष्टि तथा वस्तुवादी दृष्टिकोण प्रबल होने लगे थे। ठीक ऐसे ही समय अंग्रेजी 'गीतांजलि' का आविर्भाव हुआ। इनकी कविताओं में आत्मज्ञान तथा सहज उपलब्धि का जो स्वर है, वह जैसे पश्चिम संसार को ललकार कर कह उठा—बाहरी दुनिया से अपनी दृष्टि हटाकर, अपने भीतर झांको! पाश्चात्य के भावुक समाज में यह वाणी ऐसे पहुंची, जैसे यक्षों के महल में बांस की बनी हुई बांसुरी की ध्वनि।

इस बीच रवीन्द्रनाथ कुछ महीने के लिए अमरीका घूम आए। उनकी वह पहली अमरीका यात्रा थी। वहां रहते समय उन्होंने उपनिषद्, भारत की जीवन-साधना तथा अपने आश्रम विद्यालय के बारे में कई व्याख्यान दिए। अमरीका की वर्ण-भेद, जाति-भेद आदि प्रधान समस्याओं पर भी उन्होंने खुलकर अपनी राय प्रकट की।

नोबेल पुरस्कार

अमरीका से रवीन्द्रनाथ 1913 के अप्रैल माह में लंदन लौटे। वहां इलाज से स्वस्थ होकर, सितम्बर में भारत लौट आए। कवि को विदेश में अपार श्रद्धा तथा ख्याति मिली है, यह लोगों को मालूम हो चुका था। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें श्रेष्ठतम सम्मान, डाक्टर की उपाधि से विभूषित करने का विचार किया। दीक्षांत-समारोह होने के पहले ही, उस वर्ष के अंत में खबर मिली कि अंग्रेजी 'गीतांजलि' पर स्वीडिश अकादमी रवीन्द्रनाथ को नोबेल पुरस्कार देगी।

डाइनामाइट के आविष्कारकर्ता अल्फ्रेड नोबेल की वसीयत के अनुसार, उनकी सम्पत्ति की आय से, हर साल साहित्य, विज्ञान आदि विषयों पर पुरस्कार दिए जाते हैं। 1901 से यह नियम चालू हुआ। हर साल सारे विश्व में इन विषयों के श्रेष्ठतम व्यक्तियों को पुरस्कार दिया जाता है। 1913 में रवीन्द्रनाथ को साहित्य पर यही नोबेल पुरस्कार मिला। प्राच्य संसार के साहित्य को पहली बार पाश्चात्य की स्वीकृति मिली, सत्येन्द्रनाथ की वह कविता अक्षरशः सत्य उतरी।

पुरस्कार पाने पर, रवीन्द्रनाथ की खुशी का विशेष कारण यह रहा कि अब इन रुपयों से जरूरी काम हो सकेंगे। पतिसर में ग्रामोन्नयन का काम जोर से चल रहा था। वहां की

हितैषी सभा किसानों को कम सूद पर कर्ज देने के लिए बैंक स्थापित कर रही थी। यह तय हुआ कि पुरस्कार के रुपये इस कृषि बैंक में जमा कर दिए जाएं और इससे जो सूद मिले, वह विद्यालय के काम में लगे।

नोबेल पुरस्कार के फलस्वरूप रवीन्द्रनाथ की ख्याति संसार-भर में फैल गई। इस एक ग्रन्थ ने रवीन्द्रनाथ को सारे संसार के सामने पेश कर दिया।
कवि ने जो कहा था—

कतो अजानारे जानाइले तुमि,
कतो घरे दिले ठांई,
दूरके करिले निकट बन्धु,
परके करिले भाई—

यानी, कितने अनजाने लोगों से तुमने परिचित कराया, कितने ही घरों में आश्रय दिलाया, तुमने दूर वालों को निकट बंधु बनाया, गैर को भाई बना दिया—वह सत्य हुआ।

अंग्रेजी 'गीतांजलि' ही विश्व के साथ भारत का स्वर्णिम योगसूत्र बनी, इसी के रूप में प्रस्तुत था विश्व के सामने विश्वपथिक कवि का प्रथम परिचय।

भारत की यज्ञशाला

पाश्चात्य जगत से रवीन्द्रनाथ एक विश्वमुखी दृष्टि लेकर लौटे। उन्हें अनुभव हुआ कि प्राच्य धर्म साधना के साथ पाश्चात्य कर्म-साधना को जब तक न जोड़ा जाए, तब तक विश्व का कल्याण नहीं हो सकता।

पर कौन है, जो यह संयोग स्थापित करेगा ? दान तथा ग्रहण से कौन यह मिलन सिद्ध करेगा ? देशभेद, धर्मभेद, जातिभेद, वर्णभेद से भरे इस विचित्र संसार को एक और अखंड महान एकता के सूत्र में बांध सकने वाला सार्वभौम आदर्श कौन-सा है ?

रवीन्द्रनाथ ने कहा—इस विश्व यज्ञ के अनुष्ठान की जिम्मेदारी भारत पर है। शांति-निकेतन, 'एकमेवाद्वितीयम्' का पीठस्थान बने।

उन्होंने 1913 के अक्तूबर में एक पत्र में एंड्रूज को लिखा—आश्रम-विद्यालय को विश्व साधना के साथ संयुक्त करना पड़ेगा। और उन्होंने शांतिनिकेतन रूपी यज्ञशाला का द्वार सबके लिए खोल दिया। यहां पाश्चात्य जगत से जिनका पहले-पहल स्वागत हुआ, वह थे—एंड्रूज।

सारे आश्रमवासियों को बुलाकर उन्होंने कहा—विधाता के दानस्वरूप यह अतिथि तुम्हें मिला है। पश्चिम के तीर्थ से वह प्राण-रसधार ले आए हैं। इनके गले में प्राची माल्यार्पण करें।

उन्होंने अभ्यागत का स्वागत करते हुए कहा—

खुलेछे तोमार प्रेमे हृदयेर द्वार
हे बन्धु प्रवेश कर, करि नमस्कार

हे मित्र ! तुम्हारे प्रेम से हृदय का द्वार उन्मुक्त हो गया है, तुम्हें प्रणाम करता हूं; प्रवेश करो।

पहले, यह ईसाई पादरी दिल्ली के सेन्ट स्टीफेंस कालिज के अध्यक्ष बनकर भारत पधारे थे। अब वह सब कुछ छोड़कर, आश्रम-विद्यालय के शिक्षक बनकर आ गए। गरीब, दुखी, सताए हुए भारतीयों के लिए उनका हृदय व्यथित था। उन दिनों जो मजदूर भारत से अफ्रीका, फिजी, मारिशस आदि ब्रिटिश उपनिवेशों में भेजे जाते थे और जो कुली असम, दार्जिलिंग के इलाके में चाय बागानों में गुलामी का दस्तावेज़ लिखकर, अंग्रेज मालिकों के यहां जीवन भर मजदूरी करते थे, उन सब बेघरबार अभागों का दुख दूर करने का व्रत लेकर वह पर्यटन करते रहते थे। इसीलिए लोगों ने उनका नाम दीनबंधु रखा था। वह कभी भी घर नहीं बसा सके, फिर भी यदि कहीं उनका घर था, तो वह था शांतिनिकेतन का आश्रम। 25 वर्ष के लम्बे समय तक रवीन्द्रनाथ और शांतिनिकेतन से उनका संबंध बना रहा।

एंड्रूज के ही कारण रवीन्द्रनाथ को और भी दो अभिन्न मित्र मिले थे—ये थे अंग्रेज युवक विली पियर्सन और मोहनदास करमचन्द गांधी। बाद में चलकर कविवर ने ही गांधीजी को महात्मा नाम से विभूषित किया।

जब गांधीजी दक्षिण अफ्रीका छोड़कर भारत चले आए, तो उनके फिनिक्स विद्यालय के छात्रों ने इसी शांतिनिकेतन में ही रवीन्द्रनाथ के स्नेह का आश्रय प्राप्त किया था। गांधीजी भी थोड़े दिनों तक सपरिवार इस आश्रम में रहे। दोनों महापुरुषों का पहली बार साक्षात्कार यहीं पर 1915 के मार्च महीने में हुआ था।

जापान-अमरीका—1916

रवीन्द्रनाथ ने पाश्चात्य आकाश में जो लाल रंग देखा था, वह थोड़े ही दिनों में पाश्चात्य सभ्यता की चिताग्नि के रूप में प्रकट हो गया।

स्वार्थे स्वार्थे बेधेछे संघात,
लोभे लोभे घरेछे संग्राम।

यानी, स्वार्थ के साथ स्वार्थ का संघर्ष हो रहा है, लालच के साथ लालच का युद्ध।

1914 के अगस्त में शुरू होकर पहला विश्व युद्ध चार साल में संसार-भर में फैल गया। कितने ही शहर तथा इलाके राख हो गए, कितने ही लोग जातिद्वेष की आग में पतंगों की तरह भस्म हो गए।

जब यूरोप में विश्व युद्ध का तांडव चल रहा था, तभी 1916 के मई महीने में रवीन्द्रनाथ घर छोड़कर निकले। एंड्रूज़ और पियर्सन भी साथ थे। उन दिनों जापान प्रबल और चीन में साम्राज्य-विस्तार के लिए उद्यत था। दूसरी ओर अमरीका यांत्रिक प्रगति का वित्त सम्भार लेकर खड़ा हो रहा था। कवि का उद्देश्य था कि वह इन दोनों देशों में, जो तब तक इस युद्ध में शामिल नहीं हुए थे, जाकर लोगों से कहे कि मनुष्य द्वारा निर्मित यंत्र ही मनुष्य का कुलनाशक मूसल न बन जाए, वित्त के लोभ से मनुष्य का चित्त बिक न जाए और उग्र राष्ट्रीयता के मोह से, इंसान का इंसान से विच्छेद न हो जाए—इससे आप लोग सावधान रहें।

साथ-ही-साथ उन्होंने अपनी उस साधना के बारे में भी बताया, जिससे मनुष्य में जो भी अच्छा है और जो भी महान है, उसी के आदान-प्रदान से मनुष्य के साथ मनुष्य तथा जाति के साथ जाति की मित्रता बढ़ेगी। सुदूरपूर्व तथा संयुक्त राज्य अमरीका यदि अनुकूल हों, यदि उनकी सहायता मिल सके, तो कवि अपने शांतिनिकेतन में ही विश्वशांति का बीज बोएंगे। अक्तूबर 1916 में लॉस एंजिल्स से उन्होंने शांतिनिकेतन को पत्र भेजा—शांतिनिकेतन विद्यालय को ही विश्व के साथ भारत का योगसूत्र बनना पड़ेगा। संकीर्ण राष्ट्रीयता का युग अब समाप्त हो रहा है, भविष्य के लिए जिस विश्व-महामिलन-यज्ञ की प्रतिष्ठा हो रही है, उसका पहला आयोजन बोलपुर के आंगन में होगा।

इस बार रवीन्द्रनाथ एक वर्ष विदेशों में रहे। वह जापान तथा अमरीका के सारे बड़े-बड़े शहरों में भाषण देते रहे, संकीर्ण राष्ट्रीयतावाद के विरुद्ध उनको जो कुछ भी कहना था, स्पष्ट रूप से कहा। फलस्वरूप, दोनों देशों के शक्ति से मतवाले लोग उनसे रुष्ट हो गए। पहले-पहल प्राच्य देश के सार्वभौम कवि के स्वागतार्थ अधिकाधिक संख्या में जो उत्सव और समारोह हुए थे, वे धीरे-धीरे कम होने लगे। इसमें अचरज की बात क्या है? शक्ति के उपासक जिस आसन पर बैठकर शोषण करते हैं, यदि उसी आसन को किसी ने हिला दिया, तो वे निर्विकार रह भी कैसे सकते हैं?

भारत-प्रार्थना

1917 के मार्च में रवीन्द्रनाथ अकेले ही विदेश से करीब-करीब खाली हाथ लौट आए। वह समझ गए कि पराधीन देश के लोगों को शक्ति के मद से मतवाले विदेशियों से श्रद्धा तो मिलती ही नहीं; हां, जो भिक्षा मिलती है, वह भी अपमानमात्र है।

देश में लौटकर कविवर कई प्रकार के कामों में जुट गए, मानो कार्यों के द्वारा वह मन की ग्लानि को धो देना चाहते हों। जोड़ासांको की लाल कोठी में 'विचित्रा' नाम से साहित्य, कला, संगीत और नाटक की एक संस्था बन रही थी। उन्होंने लौटकर देखा, भांजा गगनेन्द्र, अवनीन्द्र और पुत्र रथीन्द्रनाथ की चेष्टा से 'विचित्रा' खूब जम गई है। अब कवि से प्रोत्साहन पाकर यह संस्था कलकत्ता के रसज्ञ समाज के लिए आकर्षण तथा मिलन का तीर्थस्थान बन गई।

इसी समय कविवर ने मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए माइकेल सेडलर से सिफारिश की। पाठ्यपुस्तक से रट लेने वाली शिक्षा पर उन्होंने तीव्र व्यंग्य करते हुए एक रचना लिखी—'तोता काहिनी'।

उस समय बंगला-साहित्य क्षेत्र में साहित्यिक भाषा बनाम बोलचाल की भाषा का जोरदार आंदोलन चल रहा था। रवीन्द्रनाथ बोलचाल की भाषा का समर्थन करते हुए 'सबुज पत्र' (हरा पत्ता) नामक मासिक पत्रिका में बड़ी सुंदर रचनाएं प्रकाशित करने लगे। बंगला-पाठकों में थोड़े दिनों में ही उनकी युक्तियों को धाक जम गई।

वह उन दिनों नरम-गरम राष्ट्रीय लेख भी लिखते जा रहे थे। तथा नए सिरे से नवीन पंथियों के प्रतिनिधि के रूप में कांग्रेस के काम में जुट गए। फिर जब बड़ों ने नौजवानों की मांग स्वीकार कर ली, वह अपने काम में लग गए। केवल कांग्रेस के पहले अधिवेशन में आयोजकों के अनुरोध पर एक अंग्रेजी-कविता पढ़कर सुनाई थी। कविता का नाम था—'इंडियाज़ प्रेयर', यानी भारत की प्रार्थना। यह किसी विशेष कविता का अनुवाद तो नहीं था, पर 'नैवेद्य' की एक कविता से उसका निकट सादृश्य स्पष्ट है—

वीर्य देहो सुखेर सहिते,
सुखेरे कठिन करि, वीर्य देहोदुखे,
याहे दुख आपनारे शान्तस्मित मुखे
पारे उपेक्षिते, भकतिर वीर्य देहो
कर्मे याहे हये से सफल, प्रीतिस्नेह
पुण्येओठे फुटि, वीर्य देहो क्षुद्र जने
ना करिते हीन ज्ञान, बलेर चरणे
ना लुटाते...

यानी, सुख को कठिन बनाकर सुख को वीर्य प्रदान करो। दुख को यह शक्ति दो, जिससे वह शांतस्मित चेहरे से अपनी हो उपेक्षा कर सके। भक्ति-शक्तिमान हो, जिससे वह कर्म में सफल हो सके और प्रीति स्नेह तथा पुण्य में पुष्पित-पल्लवित हो। क्षुद्र को शक्ति दो, जिससे वह अपने को हीन न समझे और बल के चरणों में सिर मत झुकाओ।

विश्वभारती-प्रतिष्ठा

दूसरे वर्ष के मध्य (1918) में रवीन्द्रनाथ को एक के बाद एक कठिन आघात लगे। खबर मिली कि उनके साथ जापान तथा अमरीका में रहते समय ब्रिटिश राष्ट्रविरोधी कार्य करने के झूठे अभियोग में पियर्सन गिरफ्तार करके इंग्लैंड भेज दिए गए हैं। उस समय यूरोप में लड़ाई चल रही थी। कैसे-किस रूप में, क्या अंधेर हो जाए, कुछ निश्चित नहीं था। विली के इस निर्वासन से रवीन्द्रनाथ बहुत दुखी हुए।

उन दिनों बड़ी लड़की बेला कठिन रोग से ग्रस्त थी। वह किसी को साथ लेकर कभी-कभी जोड़ासांको के मकान से घोड़ागाड़ी पर जाकर उसे देख आया करते थे। साथी गाड़ी पर ही उनकी प्रतीक्षा करते। एक दिन सीढ़ी पर थोड़ी दूर चढ़कर फिर वह एकाएक नीचे उतर आए और सीधे गाड़ी पर आ बैठे। साथी की प्रश्नवाचक दृष्टि देखकर वह बोले—सब समाप्त हो गया।

कहते हैं, उसी दिन शाम को 'विचित्रा' की महफिल लगने वाली थी और कविवर ने वहां पर आमंत्रित अतिथि तथा सदस्यों का यथोचित आदर-सत्कार किया। औपचारिकता में कोई त्रुटि नहीं होने पाई।

अब वह आश्रम में ही जमकर बैठ गए। उन्होंने विद्यालय के कामों में अपने को डुबो देना चाहा। थोड़े दिन पहले से विद्यालय के कामों से समय निकाल कर कई अध्यापक गवेषणा के कामों में जुट गए थे। विधुशेखर भट्टाचार्य वेद, पुराण तथा बौद्ध साहित्य पर गम्भीर अध्ययन में लगे थे। सिंहल से पाली भाषा के विद्वान एक महास्थविर आए थे। क्षितिमोहन सेन मध्ययुग के साधु-सन्तों तथा बंगाल के बाउल-सम्प्रदाय की साधना पर शोध कर रहे थे। हरिचरण बन्द्योपाध्याय अपने विराट बंगला-शब्दकोष के संकलन में लगे हुए थे। गवेषणाओं के विषय तथा पद्धति पर ये लोग रवीन्द्रनाथ से निर्देश लेते तथा अनुप्रेरणा पाते थे। रवीन्द्रनाथ उनको आवश्यक पुस्तकें जुटा देते थे।

संगीत-शिक्षा की व्यवस्था हो गई, जिसकी देखरेख दिनेन्द्रनाथ ठाकुर तथा भीमराव शास्त्री करते थे। असितकुमार हालदार तथा सुरेन्द्रनाथ कर चित्रकला के शिक्षक थे। जल्दी ही नन्दलाल बसु भी आनेवाले थे।

फिर भी आयोजन तथा उपकरण ऐसे नहीं थे कि उनकी बड़ाई की जा सके, पर रवीन्द्रनाथ जिंदगी-भर बड़े आदर्शों पर ही श्रद्धा रखते आ रहे थे। इसीलिए उन्होंने अपनी गरीबी और अभाव में ही अपनी चिरवांछित 'विश्वभारती' की नींव डाल दी, जो 'नैवेद्य' की इन पंक्तियों में भी कहा गया है—

हे भारत, तब शिक्षा दियेछे ये धन,
बाहिरे ताहार अति अल्प आयोजन,

देखिते दीनेर मतो, अन्तरे विस्तार
ताहार ऐश्वर्य यत।

यानी, हे भारत, तुम्हारी शिक्षा ने जो वैभव दिया है, उसका बाहरी आडम्बर बहुत थोड़ा है, उसका आयोजन दरिद्र है, उसके वैभव का विस्तार अन्तर में ही होता है।

1918 के दिसम्बर (पौष 7) में विश्वभारती के भवन की नींव पड़ी। बाजे नहीं बजे, समारोह नहीं हुआ, कई महान घटनाओं की तरह विश्वभारती का उद्‌बोधन भी एक आडम्बरहीन गाम्भीर्य के साथ सम्पन्न हुआ।

दूसरे साल 1919 में गर्मी की छुट्टी के बाद, एक-दो करके छात्र आने लगे। विद्यालय की बगल में ही विश्वभारती का काम चालू हो गया। संस्था की शैशवावस्था के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ने कहा था—शिशु जब संसार में आता है, तो कमजोर रहता है। उसी प्रकार सत्य जब कमजोर शिशु के रूप में आता है, तब भी उस पर आस्था की जा सकती है। विश्व-भारती एक महान भावना है, पर वह बहुत छोटी-सी देह लेकर हमारे आश्रम में भूमिष्ट हुई है।

विश्वभारती का भावरूप

विश्वभारती के द्वारा रवीन्द्रनाथ जिस महान भावना को प्रकाशित करना चाहते थे, संक्षेप में वह यह है—

- विश्व के साथ भारत को एक सच्चा सम्बन्ध स्थापित करना पड़ेगा। वस्तु, वित्त तथा शक्ति का सम्बन्ध बाहरी सम्बन्ध है।
- भारत गरीब और पराधीन देश है। उसके पास वित्त-सम्पत्ति तो है नहीं, केवल चित्त का ऐश्वर्य भर है।
- भारत ने मनुष्यत्व की सचाई को सबसे बड़ा सत्य मान लिया है।
- इतिहास विधाता के अभिप्राय से भारत में विभिन्न देशों, जातियों, वर्णों तथा भाषाओं का समावेश हुआ है।
- हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, मुसलमान, ईसाई—इन सबकी विभिन्न साधनाओं की विचित्र धाराएं आकर भारत की महान मानवता के अखण्ड समुद्र में आ मिली हैं।

• मनुष्य का सबसे बड़ा परिचय यही है कि वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक मनुष्य है, मनुष्य की सच्ची साधना के ऐश्वर्य पर, चाहे वह प्राच्य हो या पाश्चात्य, सारी मनुष्य-जाति का जन्मगत अधिकार है। विश्व के साथ भारत का सत्यसाधना का जो संयोग है, उसी का विश्वभारती साधन-क्षेत्र बने। यहां मनुष्य, मनुष्य से वरदान लेगा और अर्घ्य भी लेगा।

• विद्यालय का लक्ष्य यह था कि प्रकृति के आनंद में मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो। अब विश्वभारती के स्थापित होने पर एक और लक्ष्य बन गया, मनुष्य के क्षेत्र में मनुष्य की मुक्ति। आधुनिक यान-वाहन की प्रबुद्ध उन्नति के फलस्वरूप, भूगोल की सीमाएं संकुचित हुई हैं, मनुष्य, मनुष्य के और निकट आ गया है। भारत में एक दिन जो प्रयोग हो चुका है, उस प्रयोग का द्वार आज समग्र विश्व के सामने खुल गया है। जब मनुष्य एक-दूसरे के निकट आ गया है, तो क्या वह फिर पुराने बर्बर युगीन अभ्यास के अनुसार, संकीर्ण राष्ट्रीय गर्व लेकर विच्छिन्न और विलग ही रह जाएगा ? यदि ऐसा ही हो, तो मारकाट, हिंसा और संदेह का विषवाष्प वायुमंडल में व्याप्त हो जाएगा। तब तो मानवीय सभ्यता अकाल ही नष्ट हो जाएगी।

यदि मनुष्य को मनुष्य के रूप में जीवित रहना हो, तो उसे मानसिक क्षेत्र में, ज्ञान और मानवता के क्षेत्र में मिलना पड़ेगा। वैचित्र्य के बीच एकता की साधना का पीठस्थान यह भारत है। भारत सर्व लोकाश्रय के समन्वय का जो धर्म है, उसी का शांतिनिकेतन तीर्थ है। भारत में यह शांतिनिकेतन एक ऐसा स्थान है, जहां अपनी भारती, यानी सत्य-साधना, दान तथा ग्रहण के द्वारा समग्र विश्व संयुक्त हो सकता है। विश्वभारती नाम का अंतर्निहित अर्थ यही है। यही है विश्वभारती का भाव रूप।

परिक्रमा

भारत-क्षेत्र में विश्वभारती की स्थापना करने के बाद, रवीन्द्रनाथ भारत-परिक्रमा पर चल पड़े। दक्षिण भारत में बंगलौर, मैसूर, उटकमंड, कोयम्बतूर, सेलम, तिरुचिरापल्ली, मदुराई, मद्रास आदि स्थानों में उन्होंने विश्वभारती का संदेश पहुंचाया।

दूसरे वर्ष 1920 में वह पश्चिमी भारत गए। अहमदाबाद, भावनगर, लिमद्री, बड़ौदा, सूरत और बम्बई आदि स्थानों में भ्रमण कर तथा भाषण देकर वह मई में वापस लौट आए।

लौटने के कुछ दिन बाद ही वह विश्व-परिक्रमा पर निकल पड़े। विश्व के मानस में विश्वभारती की प्रतिष्ठा करनी थी। नोबेल पुरस्कार पाने के बाद यही उनकी पहली यूरोप यात्रा थी। अब की बार वह केवल इंग्लैंड ही नहीं, बल्कि यूरोप के अन्य देशों में भी गए और बीच के कुछ महीने संयुक्त राज्य अमरीका में भी बिताए।

1913 से 1920 के बीच रवीन्द्रनाथ की करीब बीस पुस्तकें अंग्रेजी तथा विभिन्न पाश्चात्य भाषाओं में अनूदित होकर प्रकाशित हो चुकी थीं। अनुवाद के माध्यम से विदेशी पाठक उनकी कविताओं, नाटकों, कहानियों, उपन्यासों तथा अन्य रचनाओं से परिचित हो चुके थे। उनका नाम घर-घर फैल गया था।

जिस देश में उन्हें सबसे अधिक सम्मान मिला, वह था जर्मनी। छः साल पहले युद्ध में उन्मत्त जर्मनी, काइजर बिलहेम के नेतृत्व में सारे विश्व को युद्ध-क्षेत्र में खींच लाया था।

आज उसका युद्ध-गर्व टूट गया था, सारे देश में दूसरे कुरुक्षेत्र का हाहाकार मच गया था। उसी देश में रवीन्द्र की पुस्तकें हज़ारों की संख्या में बिकी थीं। कवि जहां भी जाते, लोग श्रद्धा से टोपी उतारकर रास्ते के दोनों ओर कतार बांधकर खड़े रहते। महिलाएं घुटने टेक कर कवि के वस्त्र का छोर सिर से लगातीं।

यह व्याकुलता किसलिए थी, इतना सम्मान किसलिए? रवीन्द्रनाथ मन ही मन जान गए कि उन्होंने भारत की मानवता का जो संदेश अपनी रचनाओं में दिया है, यह उस वाणी का ही प्रभाव है। विरोध के द्वारा जो लोग बड़े होने का स्वप्न देखते थे, आज वे ही लोग मिलन के ज़ोर से एकता खोज रहे थे और शांति चाहते थे। 'नेशन' की सृष्टि का प्रधान कारखाना यूरोप, राष्ट्रीयता की रणमूर्ति देखकर आतंकित हो उठा था। यूरोप में रवीन्द्र को जो सम्मान मिला, वह किसी राजा या बादशाह को कभी नहीं मिला था। जब मनुष्य व्यथित हो उठता है, तो वह किसी ऐसे के पास ही जाता है, जो उसकी व्यथा पर शांति का लेप दे सके। इस क्षेत्र में मनुष्य यह नहीं देखता कि किस जाति का व्यक्ति यह लेप दे सकता है।

एक साल भ्रमण करते हुए उन्होंने महान व्यक्तियों से भेंट की। बर्गसां, सिल्वांलेवी, रोम्यांरोल्यां, कैसरलिंग, टॉमस मान, विंटरनिट्ज़ और लेसनी आदि मनीषियों से विश्व-भारती के सम्बन्ध में चर्चा हुई। उन्होंने भी प्राच्य-मनीषी के प्रति अपार श्रद्धा प्रकट की। कवि ने विश्वभारती में आने के लिए कइयों को आमंत्रित किया। जिसने उनका आह्वान सबसे पहले स्वीकार किया, वह थे प्राच्यतत्ववेत्ता फ्रांसीसी अध्यापक सिल्वांलेवी। उस समय इस संसार के अन्यतम अमरीकी विश्वविद्यालय हार्वर्ड की ओर से भी उनको आमंत्रित किया गया था, पर उन्होंने विश्वभारती के आकर्षण से इस न्यूनख्यात विद्यालय का आतिथ्य ही स्वीकार किया।

अथेयं विश्वभारती

23 दिसम्बर 1921 को शांतिनिकेतन-आश्रम के आम्रकुंज में विश्वभारती के वार्षिक सम्मेलन में रवीन्द्रनाथ ने इस संस्था को सर्वसाधारण के हाथों सौंप दिया। अपनी ग्रंथा-वली की कमाई, नोबेल-पुरस्कार से प्राप्त धन, ज़मीन-जायदाद, मकान, पुस्तकालय, सब कुछ विश्वभारती को समर्पित कर दिया। अध्यापक सिल्वांलेवी पाश्चात्य समाज के प्रति-निधि के रूप में वहां उपस्थित थे। सर्वजनमान्य आचार्य ब्रजेन्द्रनाथ शील सभापति के आसन पर थे। विश्व के प्रतिनिधि बनकर इस विश्ववरेण्य दार्शनिक ने विश्वभारती को ग्रहण किया। आचार्य ने कहा—यदि हम अपने में विश्व को न पा सके, तो हम अपने को भी नहीं पा सकेंगे। इसीलिए हम यहां विश्व-रूप को प्रतिष्ठित करके, स्वयं अपना परिचय पा सकेंगे और अपनी वाणी विश्व तक प्रसारित करेंगे।

विश्वभारती के आदर्श की व्याख्या इस प्रकार की गई—विश्वभारती का आदर्श सत्य की उपलब्धि है। सत्य एक है। देश-काल-पात्र के विभेद से विभिन्न मार्गों से मनुष्य ने सत्य की उपलब्धि करनी चाही है। धर्म में, साहित्य में, दर्शनविज्ञान में, शिल्प-कला में, यानी वैचित्र्यमय मानवीय आत्मप्रकाश में, इस सत्य को पाने का आग्रह दिखाई पड़ता है। भारत की मानस-सम्पदा विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होकर भो एक सत्य के महातीर्थ में आ मिली है। प्राच्य संसार के अन्य देशों के साथ भारत का जो मेल है, वह इसी सत्य की खोज के फल-स्वरूप बना था। प्राच्य की भावधारा में, मानवता के ऐक्यसूत्र के सहारे हो, प्राच्य के साथ पाश्चात्य का मिलन हो सकेगा। यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान के द्वारा ही सम्भव है। यदि विश्व से भारती का मिलन हो, तो मनुष्य जाति का महान कल्याण होगा।

विश्वभारती का संकल्प मंत्र है—

अथेयं विश्वभारती
यत्र विश्वं भवत्येक नीड़ं

यानी, विश्वभारती एक ऐसा घर है, जहां धर्म, भाषा तथा जाति का पार्थक्य रहते हुए भी, मनुष्य बाहरी भेदभाव से मुक्त होकर रह सकता है।

विश्वभारती में नाना प्रकार की विद्याओं की चर्चा होने लगी। रवीन्द्रनाथ के जीवन-काल में ही एक के बाद एक जिन संस्थाओं का निर्माण होता रहा, उनमें थीं—विद्या-भवन (1918), कला-भवन (1919), संगीत-भवन (1919), शिक्षा-भवन (1921), श्रीनिकेतन (1922), शिल्प-भवन (1937), चीन-भवन (1937) और हिन्दी-भवन (1939)।

इन विभागों के बारे में अलग-अलग विस्तृत रूप से कहने पर तो पोथी मोटी हो जाएगी और यहां स्थानाभाव है, इसलिए श्रीनिकेतन के विषय में ही कुछ कहना वांछनीय होगा ताकि रवीन्द्रनाथ की देशसेवा संबंधी वैचारिक विशिष्टा को समझने में सहायता मिल सके।

श्रीनिकेतन

शिलाईदह में रहते समय रवीन्द्रनाथ अच्छी तरह से समझ गए थे कि नगरवासियों में जो अनुकम्पा की भावना रहती है, उससे ग्रामोन्नति का कार्य करना विडम्बना मात्र है। पहले गांवों में श्री थी; स्वास्थ्य था; सम्पदा थी; धान और गोधन से भरी शालाएं थीं; मछ-लियों से भरे तालाब थे; लुहार-कुम्हार, जुलाहा, बढ़ई—सभी थे और पाठशाला—चतुष्पाठी में विद्यार्जन की व्यवस्था थी। बारह महीनों में तेरह पर्व होते थे; कथा-कीर्तन, यात्रागान आदि से गांवों के लोग खुद मनोरंजन कर सकते थे। इस तरह के भरे-पूरे ग्राम समाज को तोड़कर ही ये शहर बने हैं और उन परही आधुनिक समाज तथा अर्थव्यवस्था पलती है।

प्लासी के युद्ध (1757) में विजयी होकर, अंग्रेज कलकत्ता में जम गए। मुट्ठी-भर विदेशी थे, इसलिए उनके लिए शहर बसाकर राज करना सुविधाजनक था। जहां मल्लाहों-जुलाहों की बस्ती थी, वहीं पर अजब शहर कलकत्ता बस गया। कलकत्ता की देखादेखी भारत के हर ज़िले में छोटे-बड़े शहर बसते गए। साफ-सुथरे रास्ते, सुन्दर कोठियां, स्कूल-कॉलिज, अस्पताल, दूकानों से भरा हुआ शहर। इसके अलावा, दण्डमुंड के मालिक अंग्रेज़ शहर में ही रहते थे। देश के ज़मींदारों तथा राजाओं का मन, जो इतने दिनों तक गांव में रहकर ही प्रजा-पालन करते रहे थे, अब गांवों से ऊब गया था और शहर के लिए उनका अभियान आरम्भ हो गया था। गांव में सिर्फ गरीब किसानों के झुंड पड़े रहे, मंदिर के खंडहरों में से पीपल के पेड़ निकल पड़े। चंडीमंडप (कालीपूजा के आंगन) में धूल भर गई, तालाब काई से भर गए। सारा देश मलेरिया से ग्रस्त-त्रस्त हो उठा। समाज के मुखिया शहर चले गए। उनके बाल-बच्चों ने गांव को उपेक्षा के साथ अपने से दूर ही रखा।

दस वर्ष के लम्बे अर्से तक गांवों में रहकर रवीन्द्रनाथ समझ गए थे—

यारे तुमि निचे फेलो से तोमारे बांधिबे ये निचे,
पश्चाते रेखेछ यारे से तोमारे पश्चाते टानिछे।

यानी, जिसे तुमने नीचे गिरा दिया है, वह तुम्हें भी अपने साथ नीचे ही घसीटेगा और जिसे तुमने पीछे छोड़ दिया, वही तुम्हें पीछे की ओर खींच रहा है।

रवीन्द्रनाथ को यह महसूस हो चुका था कि जो लोग गांवों को कृपा की दृष्टि से देखते हैं, वे खुद ही कृपापात्र हैं। इन कथित भद्र व्यक्तियों को न तो ग्रामसेवा का अधिकार है, न उनमें यह योग्यता ही है। जिन लोगों ने गांवों को अपाहिज तथा दुर्बल बना दिया है, वही लोग अगर आज त्राणकर्ता के रूप में गांवों में आएं, तो गांव उन्हें ग्रहण नहीं करेंगे। 'श्रद्धया देयम्'—श्रद्धा के साथ देना होगा। अनाड़ी, नादान व्यक्ति की तरह विशृंखलित ढंग के काम करने से, काम न करना ही अच्छा है।

बंगभंग के आखिरी दिनों में जब देश उत्तेजना से भरा हुआ था, उस समय (1904) की कलकत्ता महानगरी की एक सभा में रवीन्द्रनाथ ने 'स्वदेशी समाज' नामक एक निबंध पढ़ा। देश की असली समस्या क्या है और उसका समाधान कैसे हो सकता है, किस तरह से देश की प्राणशक्ति को गांवों में जगाया जा सकता है, इसे उन्होंने बड़े सुंदर ढंग से समझा दिया। पर उस जमाने के राष्ट्रीय नेता उनकी बातों को लेकर नहीं चल सके। वे लोग तो उन दिनों अंग्रेजी भाषा में बुलंद आवाज से, अंग्रेजों को निकालने के काम में ही जुटे रहे। देश के असली कामों की ओर देशवासियों का मन नहीं लगा। मजबूर होकर रवीन्द्र अपने ही बल पर जो कुछ कर सकते थे, करने लगे।

खेती पर निर्भर गांवों की वास्तविक उन्नति हो, इसी उद्देश्य से उन्होंने आश्रम-विद्यालय से पहले-पहल इंट्रेंस पास हुए दो छात्रों को 1906 में अमरीका के इलीनाय विश्वविद्यालय में कृषि-विज्ञान के अध्ययन के लिए भेज दिया। वे दोनों छात्र थे—रथीन्द्रनाथ और संतोषचंद्र। 1907-8 में वह एक तरफ विद्यालय के काम देख रहे थे, दूसरी तरफ शिलाईदह-पतिसर इलाके में ग्रामोन्नयन के प्रयोग में हाथ बंटा रहे थे। इस युग में उनके प्रधान सहायक पूर्वी बंगाल के कुछ युवक थे। कालीमोहन घोष भी उनमें से एक थे।

1908 के फरवरी महीने में, पाबना के प्रादेशिक सम्मेलन में सभापति-पद से रवीन्द्रनाथ ने फिर गांवों की ओर देश की दृष्टि आकर्षित करने की चेष्टा की। कैसे गांवों में सहकारी व्यवस्था प्रचलित हो, श्रम की बचत करने वाले यंत्रों का प्रयोग किया जाए, कुटीर-उद्योग अपनाए जाएं, सुसंगठित रूप से शिक्षा तथा स्वास्थ्य की उन्नति की जाए—इन विषयों पर बड़े सुंदर ढंग से स्पष्ट सुझाव उन्होंने दिए। पर उस समय कवि से प्राप्त ज्ञान को समझने की दृष्टि लोगों में कहां थी?

1906 से 1909 तक अमरीका में कृषि-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके, रथीन्द्रनाथ और संतोषचंद्र भारत लौट आए। संतोषचंद्र तो सीधे विद्यालय के कामों में जुट गए और छात्रों को बागबानी, पशुपालन, हस्तशिल्प, खेलकूद—इन सभी की शिक्षा देने में रवीन्द्रनाथ के प्रधान सहायक रहे। रथीन्द्रनाथ ज़मींदारी के काम की देखभाल करने के साथ ही शिलाईदह और पतिसर-इलाके में उन्नत ढंग की कृषि-पद्धति अपनाने तथा श्रम की बचत करनेवाले यंत्रादि का उपयोग शुरू कराने की चेष्टा करते रहे। गांवों में हितैषी सभा, कृषि के लिए ऋण देने वाले बैंकों, झगड़े निपटाने वाली ग्राम पंचायतों के काम और स्कूल स्थापना जैसे कई रचनात्मक कार्य करने लगी।

अब रवीन्द्रनाथ शांतिनिकेतन-विद्यालय के साथ ग्रामोन्नयन के काम को एक कल्याण-सूत्र में बांधने की सोच रहे थे। शायद इसी सम्भावना को सोचकर, कभी उन्होंने (1912-13 में) इंग्लैंड रहते समय रामपुर के कर्नल नरेन्द्रप्रसाद सिंह से सुरुल कोठी तथा उसके साथ फैली जमीन को खरीद रखा था।

श्रीनिकेतन की प्रतिष्ठा

विश्वभारती की शुरुआत (1918) से ही रवीन्द्रनाथ ने शिक्षा-विषयक कई निबंध लिखे थे, जिनमें शिक्षा के साथ देश की जीवनधारा और सभी क्षेत्रों को संयुक्त करने की बात कही गई थी। अड्यार-भाषण में उन्होंने कहा था—यदि भारत में वास्तविक ढंग के शिक्षालय स्थापित हों, तो शुरू से ही अर्थशास्त्र, कृषि-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान तथा सारे व्यावहारिक विज्ञानों को आस-पास के गांवों में प्रयुक्त करना पड़ेगा और इस तरह के विद्यालय को ही जीवन-यात्रा का केंद्र बिंदु बनना पड़ेगा। ये विद्यालय उत्कृष्ट ढंग से खेती करेंगे, पशुपालन

करेंगे, कपड़े तैयार करेंगे। ये अपनी आर्थिक स्थिति के लिए सहकारी पद्धति को अपनाकर छात्रों, शिक्षकों तथा आस-पास के लोगों के साथ, जीविका के योगसूत्र द्वारा घनिष्ठ रूप से संयुक्त हो जाएंगे।

इसी आदर्श को लेकर आनुष्ठानिक रूप से विश्वभारती की स्थापना (23 दिसम्बर 1921) के थोड़े दिन बाद ही, यानी 6 फरवरी 1922 को सुरुल कोठी में ग्राम-संगठन-संस्था स्थापित हो गई। कविवर ने इस केन्द्र का नाम 'श्रीनिकेतन' रखा। 'श्री' शब्द का अर्थ होता है सौंदर्य, आनंद तथा ऐश्वर्य। श्रीहीन देहातों की श्री को लौटाने के लिए ही श्रीनिकेतन की स्थापना हुई।

लेनर्ड एल्महर्स्ट नाम के एक आदर्शवादी तथा कर्मठ अंग्रेज़ युवक श्रीनिकेतन के पहले अध्यक्ष बनकर आए। उनके इस काम में उत्साही अग्रगण्य सहयोगी थे—काली मोहन घोष, एक अमरीकी चिकित्सक हैरी टिम्बर्स, संतोषचन्द्र मजुमदार, एक दक्ष जापानी काष्ठ-शिल्पी का साहारा तथा गौरगोपाल घोष।

सुरुल तथा आसपास के गांवों में रचनात्मक ढंग से काम करने के बाद, एल्महर्स्ट ने अपनी प्रत्यक्ष अभिज्ञता के बारे में कवि से चर्चा की थी। इसके बाद दोनों ने मिलकर श्रीनिकेतन के आदर्शों तथा उद्देश्यों को व्यक्त करते हुए जो विवरण दिया, उसका सार यह था—'श्रद्धया देयम्'। मानवता के लिहाज़ से ग्रामवासी श्रद्धा के योग्य हैं। ग्राम के समग्र जीवन को समझना पड़ेगा, जानना पड़ेगा, जब ग्राम के साथ श्रद्धा का सम्बन्ध बन जाएगा, तभी ग्राम की सेवा करने का अधिकार मिल सकता है। ग्राम की समस्याओं पर विच्छिन्न तथा अलग ढंग से विचार करना ठीक नहीं है, उन पर समग्र दृष्टि से विचार करना चाहिए। वहां की शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, कला, समाज, संस्कृति—सभी वहां के जीवन के परस्पर-सम्बद्ध विभिन्न पहलू हैं। इन समस्याओं का समाधान कैसे हो, इसके लिए गहरे चिंतन की ज़रूरत है। केवल भावुकता से काम नहीं बनने का। ग्राम सेवा का खास ढंग से उपाय है, कार्यों की विशेष रीति-पद्धति है, जो शिक्षा तथा अभिज्ञता के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। समस्याओं का संतोषजनक समाधान मिल जाए, तो उसे गांववालों के सामने पेश करना पड़ेगा। यदि व्यक्ति तथा समाज उन्हें प्रसन्नता के साथ ग्रहण कर सकें, तभी ग्राम-सेवा सार्थक होगी। आत्मशक्ति तथा सहकारिता ही ग्राम-सेवा का आधार होना चाहिए; ग्राम-वासियों की चेष्टा से ही गांव की श्री, सम्पदा तथा आनन्द को लौटाना होगा।

श्रीनिकेतन में भिन्न-भिन्न समय पर कितने ही विषयों पर प्रयोग हुए हैं, जिनका विशद विवरण देने पर एक पृथक् पुस्तक की ही रचना करनी पड़ेगी। अतः इतना कहना ही पर्याप्त है कि गांधीजी के नेतृत्व में, कांग्रेस की ओर से, ग्रामोन्नयन की जो योजना बनी थी और इस समय भारत की राष्ट्रीय सरकार ने जिन समाज-कल्याण-संस्थाओं की देश भर में स्थापना की है, इन सबकी रीति-नीति तथा पद्धति बहुधा श्रीनिकेतन के आदर्श से ही अनुप्राणित है।

रवीन्द्रनाथ के पास धन नहीं था, इसीलिए वह ग्राम-संगठन का काम व्यापक रूप से नहीं कर पाए। श्रीनिकेतन के कामों में जो खर्च होता था, उसका बहुत बड़ा हिस्सा लगातार करीब पच्चीस साल से एल्महर्स्ट ही जुटाते आए थे। इन कार्यों का आकार बहुत बड़ा तो नहीं था, पर उससे सच्चे आदर्श की मर्यादा क्षुण्ण नहीं होती। मृत्यु के दो साल पहले रवीन्द्रनाथ ने कहा था—मैं अकेला सारे हिन्दुस्तान की जिम्मेदारी नहीं ले सकता। केवल एक या दो छोटे-छोटे गांवों पर ही मैं विजय प्राप्त कर सकता हूं। इन्हीं का हृदय जीतना है, इनके साथ मिलकर काम करने की शक्ति जुटानी पड़ेगी...यदि मैं केवल दो-तीन गांवों को ही अज्ञान, असमर्थता के बन्धन से मुक्त कर सकूं, तो वही समग्र भारत के लिए एक आदर्श बन जाएगा।...इन कुछेक गांवों को पूर्ण रूप से मुक्त करना पड़ेगा। यहां सभी शिक्षा प्राप्त करेंगे। गांव-भर में आनन्द की ही लहर उठेगी। गीत, बाजा, कीर्तन तथा कथा होगी...मैं तो कहूंगा, ये कुछ गांव ही मेरा भारतवर्ष हैं।

विश्वभारती के राही

1921 में रवीन्द्रनाथ 60 वर्ष पार कर गए। अधिकांश लोग इस उम्र में अवकाश प्राप्त करके आखिरी दिन शान्ति तथा आराम से बिताना चाहते हैं, पर जब तक संकल्प न पूरा हो, तब तक रवीन्द्रनाथ को चैन कहां? इसीलिए 60 से लेकर 75 वर्ष तक, यानी जितने दिन तक स्वास्थ्य तथा सामर्थ्य बनी रही; वह अनवरत देश-देशान्तर का पर्यटन करते रहे। नए-नए देश देखने का उन्हें बड़ा चाव था। विश्व को एक करके देखना उन्हें प्रिय था, वैसे ही विश्व का वैचित्र्य देखकर उन्हें प्रसन्नता होती। फिर वह कवि थे, कलाकार थे, मनुष्य को जानना तथा अपना भाव व्यक्त करना उनका धर्म था। कवि ने कहा भी है—

सब ठांइ मोर घर आछे, आमि
सेई घर मरि खुंजिया।
सब देशे मोर देश आछे, आमि
सेइ देश लव युझिआ।

× × ×

घरे घरे आछे परमात्मीय,
तारे आमि फिरि खुंजिया।

यानी, सभी जगह मेरा घर है, मैं उसे ढूंढ़ता फिरता हूं, सब कहीं मेरा देश है, मैं उसे लड़कर प्राप्त कर लूंगा। घर-घर में मेरे परम आत्मीय रहते हैं, मैं उन्हें खोजता फिरता हूं।

पर क्लान्तिहीन अध्यवसाय से लगातार पंद्रह साल देश और विदेश घूमते रहना, एकदम से शौकिया देश-भ्रमण नहीं था। जब-जब कवि के मन ने एकान्त चाहा, तब-तब उन्हें जनता की भीड़ में आकर खड़ा होना पड़ा; स्तब्ध नीरवता के लिए जब प्राण व्याकुल हुए, तो सभा-समितियों में व्याख्यान और भाषण देने पड़े, यहां तक कि कृपण धनिकों के दरवाजों पर भिक्षापात्र लेकर खड़ा होना पड़ा और शरीर क्लान्त होने पर भी एक के बाद दूसरे शहरों और बन्दरगाहों के चक्कर काटने पड़े। कितनों ने गलत समझा, विरोध किया, आश्रम के शान्तिपूर्ण वातावरण में लौट आने के लिए हृदय व्याकुल हुआ, पर आराम करते तो कैसे? 'चरैवेति-चरैवेति'—अन्तहीन पथ चलना है, विश्वभारती के आदर्श का सन्देश देना पड़ेगा। विश्व के विद्वत्समाज को आमंत्रित करना था विश्वभारती में—'यत्र विश्वं भवत्येक नीड़ं।' विश्व को अनुकूल करना था और इसके लिए साधना करनी थी। सारे प्राच्य तथा पाश्चात्य तीर्थों से तीर्थवारि जुटाना था। सारी मनुष्य-जाति के आग्रह की छवि न मिल सकी तो विश्व-यज्ञ कैसे पूर्ण होगा?

वह भारत के विभिन्न प्रान्तों तथा भारत के बाहर कितनी ही बार गए। केवल उन देशों तथा समय की सूचियों से ही एक पुस्तिका बन सकती है। आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड को छोड़, बाकी पृथ्वी के हर स्थान का उन्होंने भ्रमण किया और जिस देश में भी गए, उस मुल्क को और वहां के लोगों को समझने का उनमें प्रबल आग्रह था। चिट्ठी-पत्री, डायरी तथा कविता में उसके हज़ारों संकेत मिलते हैं। अनजान को जानने के उस आग्रह, दूर को निकट लाने की उस साधना के बदले कवि को देश-विदेश से अपार श्रद्धा, सम्मान, स्नेह, और प्रेम मिला। प्राच्य जगत में ऐसा और कोई भी लेखक नहीं है, जिसकी पुस्तकें इतनी विदेशी भाषाओं में अनूदित हुई हों तथा इतने विशाल जनसमाज के ज्ञान तथा हृदयों को छू लिया हो।

आखिरी दिनों में अपने प्रारम्भिक दिनों पर दृष्टि डालते हुए कवि ने कहा—मैंने पूर्व तथा पश्चिम के हाथों को मिलाने के उद्देश्य से अपने भीतर समा लिया है। अपने नाम का अर्थ मैं अपने प्राणों में अनुभव कर सका हूं।

महात्मा और गुरुदेव

जब रवीन्द्रनाथ ने मानवता के आधार पर विश्व के साथ भारत को संयुक्त करना चाहा (1918), तब उन दिनों अन्तर्राष्ट्रीयता को कवि-कल्पना कहकर, लोगों ने उन पर व्यंग्य किया था। आज स्वतंत्र भारत के लोग यह महसूस कर सकते हैं कि भिन्न-भिन्न प्राच्य तथा पाश्चात्य देशों के साथ रवीन्द्रनाथ सौहार्द का जो क्षेत्र तैयार कर गए हैं, वही सम्भवतः आज के जीवन का मूलाधार है।

रवीन्द्रनाथ के साथ स्थापित गांधीजी के सम्बन्ध पर भी कहना जरूरी है। दिसम्बर, 1918 में विश्वभारती की स्थापना के कुछ महीने बाद ही जलियांवाला बाग हत्याकांड हो

गया। तब लोग आतंक से मुरझा गए। रवीन्द्रनाथ ने सारे देश की ओर से प्रतिवाद करते हुए ब्रिटिश सरकार की दी हुई 'सर' की पदवी त्याग दी। उन्होंने बड़े लाट को चिट्ठी लिखी कि जब पराधीन देश की निरस्त्र-निरीह प्रजा पर गोली चलाई जाती है, तो विदेशी सरकार का दिया हुआ तमगा उन्हें असहनीय अनुग्रह प्रतीत हो रहा है।

जलियांवाला कांड को लेकर, जो आन्दोलन शुरू हुआ, उसके नेता स्वयं मोहनदास करमचन्द गांधी थे। उनका हथियार था—अहिंसात्मक असहयोग। 'प्रायश्चित' नाटक के धनंजय वैरागी की तरह वह राजनीति के क्षेत्र में सत्य का आश्रय लेकर उतरे।

गांधीजी का आन्दोलन कल्याण-कामनायुक्त तथा विद्वेषहीन था, फिर भी कार्यतः असहयोग के नाम पर उग्र अंग्रेज-विद्वेष तथा उत्कट स्वदेश-प्रेम ने ही देशवासियों के चिन्तन और प्रयास को ग्रस लिया। रवीन्द्रनाथ उस समय (1920) इंग्लैंड में थे। असहयोग-आन्दोलन में जो अतिशयता आ गई, उसके प्रति कवि का जरा भी अनुराग नहीं था। जब वह विदेश में विश्व के साथ भारत के आदान-प्रदान के बारे में सोच रहे थे, उस समय उन्हें खबर मिली कि राजनीतिक उत्तेजना आश्रम तक फैल गई है और वहां उसकी प्रबल प्रतिक्रिया दिखाई पड़ी है। यह उन्हें नहीं भाया। राजनीति आकर विद्यालय पर घेरा डाले और सभी क्षेत्रों में असहयोग देशवासियों के चित्त को आच्छन्न कर ले, यह उन्होंने नहीं चाहा। वह तो बराबर यही चाहते आए थे कि आत्मशक्ति पर निर्भर होकर देशवासी देशसेवा के किसी भी रचनात्मक कार्य में लग जाएं। स्कूल-कालिजों का बहिष्कार उन्हें सबसे बुरा लगा था। अपरिपक्व तथा भावुक किशोर मन को राजनीतिक भंवर में खींच लाने पर उनको विशेष आपत्ति थी।

जुलाई 1921 में रवीन्द्रनाथ स्वदेश लौटे। सितम्बर के शुरू में गांधीजी जोड़ासांको के मकान में रवीन्द्रनाथ के साथ असहयोग-आन्दोलन पर बातचीत करने आए। बन्द कमरे में बातचीत हुई। वहां उपस्थित तीसरे व्यक्ति थे एंड्रूज। दोनों सहमत नहीं हो सके। बाद में अखबारों के द्वारा कुछ वाद-विवाद भी हुआ। रवीन्द्रनाथ को आशंका थी कि असहयोग एक ऐसा अस्त्र है, जो अनधिकारी के हाथ में पड़ने पर उसे हिंसा की राह पर खींच ले जाएगा। हुआ भी वही। संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के चौरीचौरा गांव में उत्तेजित जनता ने थाने में आग लगा दी। गांधीजी ने आन्दोलन रोक दिया। उस समय गांधीजी ने रवीन्द्र को 'द ग्रेट सेन्टिनल' यानी 'महाप्रहरी' की संज्ञा से विभूषित किया। द्वारपाल जैसे सदा जाग्रत दृष्टि लेकर दुर्ग-संरक्षण में लगा रहता है, वैसे ही रवीन्द्रनाथ भी सदा सतर्क रहते, जिससे किसी भी छिद्र से राष्ट्रीय जीवन में पाप का प्रवेश न हो।

इन दोनों युगपुरुषों के सम्बन्धों पर विचार करने पर यह बात साफ हो जाती है कि क्षेत्र विशेष में इनका मतभेद भले ही प्रबल हो, लेकिन एक-दूसरे के प्रति सम्भ्रम तथा श्रद्धा में जरा भी कमी नहीं होती थी। मई 1925 में गांधीजी अपने चर्खा-आंदोलन के पक्ष में रवीन्द्रजी नाथ का समर्थन प्राप्त करने शान्तिनिकेतन आए। पहली बार की तरह इस बार भी एंड्रूज

उनके साथ रहे। इस बार भी मतभेद हुआ, वाद-विवाद हुआ, फिर भी 1930 में रवीन्द्रनाथ इंग्लैंड तथा यूरोप में अपने भाषणों, व्याख्यानों, चर्चाओं में यह बात बड़े जोर के साथ कहते रहे कि भारत के राष्ट्रीय जीवन में गांधीजी ही महान तथा एकमात्र नेता हैं।

जनवरी 1932 में बिना मुकदमा चलाए, गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया। यह सुनकर रवीन्द्र-जयन्ती-समारोह रोक दिया गया। उस साल सितम्बर के महीने में जब गांधीजी हरिजन तथा कथित उच्चवर्ण के हिंदुओं के मामले पर अनशन करने लगे, तो कवि व्याकुल हो उठे। उन्होंने देशवासियों से विनती की—अस्पृश्यता दूर करो। महापुरुष की मृत्यु का कारण न बनो।

वह भागे-भागे पूना पहुंचे, वहां सुना कि देशवासियों के आश्वासन पर गांधीजी अनशन भंग करने को राजी हो गए हैं। जेलखाने में गांधीजी की चारपाई के पास रवीन्द्रनाथ जा बैठे। पात्र भरकर फल का रस गांधीजी के अनशन-जीर्ण हाथों में दिया। गांधीजी के अनुरोध पर वृद्ध कवि कम्पित कंठ-स्वर से गा उठे—

जीवन यखन शुकाये जाय
करुणा धाराय ऐसो।

यानी, जीवन का रस सूख जाए, तो करुणा की धारा के रूप में आओ।

इसके दो साल बाद 1934 में बिहार के भूकम्प के बाद गांधीजी ने कहा कि अछूतों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचार के कारण ही यह प्राकृतिक विपर्यय हो गया है। गांधीजी की यह बात सुनकर रवीन्द्रनाथ ने स्पष्ट भाषा में इसका प्रतिवाद किया। मनुष्य अपने किसी काम के फलस्वरूप, विधाता की सृष्टि को चूर-चूर कर सके, यह बात रवीन्द्रनाथ ने नहीं मानी। उन्होंने यह भी कहा था, यदि महात्मा जैसे व्यक्ति से ऐसे किसी कुसंस्कार को आश्रय मिला तो वह देश के लिए खतरनाक है।

दूसरे साल 1935 में रवीन्द्रनाथ ने 75वें वर्ष में पदार्पण किया। अकेले विश्वभारती की भारी जिम्मेदारी को निभाना क्रमश: असाध्य होता जा रहा था। दुख किससे कहते। उन्होंने गांधीजी से ही कहा—इस वृद्धावस्था में मुष्टि-भिक्षा द्वारा संस्था चलाना कष्टसाध्य है, शरीर भी अब असमर्थ हो रहा है। पर करें भी क्या ? 1935-36 के अन्त में विश्वभारती का कोष शून्य था। साठ हजार रुपये का घाटा था। नट-बाउल का लबादा चढ़ाकर, चेले-चापड़ लेकर वृद्ध-कवि भिक्षा की झोली कन्धे पर लटकाए निकल पड़े। अर्थ-प्राप्ति की गरज तो थी ही, साथ ही परमार्थ की भी। थोड़े दिन पहले नए नाटक की रचना की थी। नृत्य, गीत तथा अभिनय तीनों का समावेश था। नृत्यनाट्य था। तय हुआ कि नृत्यनाट्य 'चित्रांगदा' सब को घूम-घूम कर दिखाएंगे। इस प्रयोग को लोगों के सामने रखा जाएगा। साथ-साथ टिकट के पैसे विश्वभारती की भूख मिटाने के काम आएंगे। कविवर कलकत्ता, पटना,

इलाहाबाद और लाहौर घूमते हुए अपने दल के साथ दिल्ली पहुंचे। गांधीजी तब वहीं पर थे। वृद्धावस्था में सारे उत्तर भारत का दौरा करके रवीन्द्रनाथ पैसे जुटा रहे हैं, यह जानकर गांधीजी का हृदय व्यथित हो उठा। अपने एक अनुरक्त भक्त से विश्वभारती के घाटे को पूरा करने के लिए साठ हजार रुपये का एक चेक लेकर कवि के हाथों में थमाते हुए कहा—अब इस तरह आपको घूमना न पड़े।

वस्तुतः यही कवि के भिक्षाव्रत का अन्तिम अभियान था।

दूसरे साल 1937 में रवीन्द्रनाथ कठिन बीमारी से ग्रस्त हो गए। करीब दो दिन तक बेहोश रहे। उत्कण्ठित गांधीजी के तार पर तार आने लगे। स्वस्थ होकर कवि ने जो पहला पत्र अपने हाथों से लिखा, वह गांधीजी को ही लिखा था। वे एक-दूसरे के शरीर तथा स्वास्थ्य के कारण उद्विग्न रहते; कुशल समाचार के लिए व्याकुल रहते थे। दोनों राजबन्दियों की मुक्ति के लिए साथ-साथ कोशिश कर रहे थे, पर उसी बीच गांधीजी द्वारा परिकल्पित बुनियादी शिक्षा का पहला मसविदा देखकर रवीन्द्रनाथ ने लिखा—इस परिकल्पना में जीवन से कहीं अधिक जीविका पर जोर दिया गया है। शिक्षा का लक्ष्य पूर्ण मानवता की चर्चा ही है।

कुछ वर्ष बीत गए। फरवरी 1940 में गांधीजी बंगाल आ रहे थे। रवीन्द्रनाथ ने उन्हें शान्तिनिकेतन आने का तुरन्त निमन्त्रण भेजा। सपत्नीक तथा दलबल सहित गांधीजी आ पहुंचे। इस बार एंड्रूज आश्रम में नहीं थे। वह बीमार होकर कलकत्ते के किसी नर्सिंग होम में दाखिल थे। चार्ली के स्वास्थ्य पर दोनों ही दुःखी तथा चिन्तित थे, फिर भी रवीन्द्रनाथ के विशेष आग्रह पर गांधीजी ने आनुष्ठानिक रूप से अभिनन्दन ग्रहण किया। शान्तिनिकेतन-भवन से संलग्न आम्रकुंज में अभिनन्दन समारोह हुआ। रवीन्द्रनाथ ने अपने हाथों से अतिथि के गले में माला डाली। उन्होंने कहा—आप हमारे आत्मीय हैं, मित्र हैं, क्योंकि आप केवल भारत के ही नहीं, सारे विश्व के हैं।

उत्तर में गांधीजी ने कहा—यह आश्रम मेरा अपना घर है। गुरुदेव ने मुझे आशीर्वाद दिया है, मेरा हृदय भर गया।

दूसरे दिन विदा लेकर जब गांधीजी जाने लगे, तो रवीन्द्रनाथ ने उनके हाथ में एक पत्र रख दिया : विश्वभारती हमारी तपस्या की 'सोनार-तरी' (स्वर्ण-नौका) है। अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ धन मैंने इसी नाव पर अपने देशवासियों के लिए चढ़ा दिया है। यदि मेरे इस आत्मोसर्ग का कुछ भी मूल्य है, तो देशवासियों की ओर से आप इसे ग्रहण करें और इसकी रक्षा करें।

गांधीजी ने रवीन्द्रनाथ का यह अनुरोध स्वीकार किया। उन्होंने विश्वभारती की सहायता के लिए एंड्रूज-स्मारक-निधि में मई, 1942 में पांच लाख रुपया इकट्ठा कर दिया था। मृत्यु के कुछ दिन पहले गांधीजी ने जवाहरलाल नेहरू तथा मौलाना अबुल कलाम

आजाद को विश्वभारती के सम्बन्ध में जो निर्देश दिया था, उसी के अनुसार राष्ट्रीय सरकार ने संसद में, 1951 में विश्वभारती को केन्द्रीय विश्वविद्यालय की मान्यता प्रदान की।

सितम्बर, 1940 के अन्त में कलिम्पोंग में एकाएक रवीन्द्रनाथ बीमार हो गए। लगभग बेहोशी की हालत में उन्हें इलाज के लिए कलकत्ता लाया गया। जोड़ासांको के मकान में पहुंचने के दो दिन बाद सेवाग्राम से गांधीजी का सन्देश लेकर महादेव देसाई पहुंचे। उस दिन रवीन्द्रनाथ को होश आया था, पर चेतना पूरी तरह नहीं आ पाई थी। उनके कानों में कहा गया—आपका कुशल समाचार लेने के लिए गांधीजी ने महादेव भाई को भेजा है।

उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, पर आंखों से झर-झर आंसू बहने लगे। पुत्रवधू प्रतिभादेवी बगल में खड़ी थीं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'निर्वाण' में लिखा था—मैंने यहीं पहली बार उनके आंसू देखे।

इस बार कवि स्वस्थ हुए। उसी वर्ष के अन्त में गांधीजी पर एक कविता लिखी—

गांधी माहराजेर शिष्य
केऊबा धनी केऊबा नि:स्व,
एक जायगाय आछे मोदेर मिल—
गरीब मेरे भराइने पेट,
धनोर काछे होइ ने तो हेंट,
आतंके मुख हय न कभु नील।

यानी, गांधी महाराज का शिष्य कोई धनी है, कोई गरीब, पर एक स्थान पर हम एक जैसे हैं। हम जो गरीब हैं, वे अमीर के सामने सिर नहीं झुकाते और उससे डरते भी नहीं हैं।

दूसरे साल 1941 में आश्रम से यह तय हुआ कि पच्चीस बैशाख के समय गर्मी की छुट्टी के कारण, विद्यालय बन्द हो जाता है, इसलिए नव वर्ष का पहला दिवस यानी पहली बैसाख को रवीन्द्रनाथ की अस्सीवीं वर्षगांठ मनाई जाए। एक दिन पहले गांधीजी का तार आया—चार कोड़ी थोड़े हैं, आप को पांच कोड़ी पूरे करने हैं।

लौटती तार से रवीन्द्र का जवाब गया—चार कोड़ी अमार्जनीय हैं और पांच कोड़ी असहनीय।

दोनों मित्रों में यह अन्तिम सन्देश-विनिमय था।

आखिरी बार गांधीजी दिसम्बर 1945 में शान्तिनिकेतन आए थे। उस दिन किसी ने उनसे प्रश्न किया— लोग कहते हैं, गुरुदेव से आपके मत का जमीन-आसमान का फर्क था, क्या यह सच है ?

गांधीजी ने हंसते हुए जवाब दिया—पहले-पहल तो मुझे भी ऐसा ही लगा कि हम दोनों में ज्यादातर मतभेद ही है, पर दिन जितने ही बीतते जा रहे हैं, उतना- ही दिखाई पड़ता है कि हम दोनों का मत मिलता जा रहा है। असल में मतभेद है ही नहीं।

सृष्टि की विविधता

1922 से 1941 तक रवीन्द्रनाथ का जीवन एक महानदी की तरह था। ध्यान-मग्न हिमालय के हृदय में वह महानदी सोई थी, एक दिन निर्झर का स्वप्न भंग हो गया। बर्फ गलने से नदी का प्रवाह निकल आया, कभी तो फेनोज्जवल, कभी प्रशांत, कभी प्रमत्त और कभी गहरी धार! कितनी ही धाराएं आकर इस महाधारा के साथ मिल गईं। किनारे-किनारे जनपद निर्मित हुए, परिव्याप्त तटों पर अपार ऐश्वर्य बिखराकर महानदी अपनी पूर्णता के गौरव में धीरे-धीरे गहरी होती गई। महासमुद्र तक यात्रा करनी है, मुहाने के पास आकर उससे देर नहीं सही जाती। महासमुद्र का आह्वान जो पहुंचा। छोटी-छोटी शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त होकर नदी जैसे और भी चंचल गति से छलांग भर गई। अन्त में सारा वैचित्र्य समेट-कर वह एक अद्वैत के पारावार में मिल जाती है।

कवि का जीवन इसी प्रकार विविधता से पूर्ण रहा। 19वीं सदी के अन्तिम चालीस वर्षों से लेकर बीसवीं सदी के प्रारम्भिक चालीस वर्षों तक कवि का दीर्घ जीवन प्रसारित रहा। भारत के प्राक्पौराणिक उपनिषद् युग से लेकर अनागत भविष्य तक उनकी चिन्ता तथा चेतना का विस्तार था। प्राच्य तथा पाश्चात्य के बीच वह विश्वमानवीय सौहार्द के अग्रदूत थे। उनकी कल्पना का संसार सुदूर प्रसारित था। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, चित्र, संगीत, सभी में उनकी अजस्र सृष्टि का परिचय है। चिन्तन को लिया जाए, तो पता चलेगा कि मानव-जीवन का एक भी पहलू ऐसा नहीं है, जिस पर उन्होंने गहन चिन्तन न किया हो। भावना, रूप, गीत, छन्द, रंग, रेखा तथा ज्ञान और कर्म द्वारा उन्होंने कितने ही रूपों में अपने को व्यक्त किया। यह एक परम विस्मय का विषय है।

जीवन की घटनाओं से उनका पूर्ण परिचय पाने की चेष्टा व्यर्थ है। भावी जीवनीकारों के लिए वह इसीलिए चेतावनी दे गए—

बाहिर हतो देखो ना एमन करे
आमाय देखो ना बाहिरे
कविरे खूंजीछ येथाय सेथा से नाहिरे।

यानी, मुझे इस तरह बाहर से मत देखो, मेरे बाहर को न देखो, कवि को तुम जहां खोज रहे हो, वह वहां नहीं है।

सृष्टा अपनी रचनाओं में खुद अपना परिचय रख जाते हैं। रवीन्द्रनाथ को जानने का श्रेष्ठ उपाय उनकी रचनाओं में ही मिल सकता है। इस पुस्तक के परिशिष्ट में कवि के विराट रचना-सम्भार से उनकी विशेष उल्लेखनीय कुछ पुस्तकों की विषयानुसार सूची दी गई है।

इतनी थोड़ी जगह में उनकी विविध रचनाओं का परिचय देना कतई सम्भव नहीं है। यदि उनके जीवन के अन्तिम दिनों (1922 से 1941) को ही देखा जाए, तो उनके सृजन की अचिन्तनीय विचित्रता का कुछ आभास मिलता है।

इन थोड़े वर्षों में नवप्रतिष्ठित विश्वभारती में ज्ञान तथा धर्म के विभिन्न उद्योगों को वह रूपायित कर रहे थे। उन्होंने दक्षिण भारत (1922), पश्चिम भारत (1923), दक्षिण-पूर्व एशिया (1927), कनाडा, जापान तथा इंडोचीन (1929), फ्रांस, इंग्लैंड, जर्मनी, डेनमार्क, रूस तथा अमरीका (1930), ईराक, ईरान (1932), सिंहल (1934) और उत्तर भारत (1936) की यात्रा की। पर वृद्धावस्था में इतने हजारों कामों के बीच भी उनका सृजन बराबर चालू रहा। देश-विदेश से वह मानो नित्य नया आनन्द, उत्साह संचित कर लाए।

इन बीस वर्षों में उनकी जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, उनकी संख्या करीब 75 होगी। नए-नए स्वरों में उन्होंने कितने ही गीतों की रचना की, जिनका हिसाब नहीं। केवल विभिन्न ढंग के नाटक लिखे हों यही नहीं, उन्होंने खुद निर्देशन भी किया और अभिनय भी। शान्ति-निकेतन के छात्र-छात्राओं के साथ नृत्य को अपने प्रौढ़ मन के रस-द्वारा अभिषिक्त करके उसे आत्माभिव्यक्ति के विशेष माध्यम के रूप में उन्होंने मर्यादा प्रदान की और नृत्यगीत तथा अभिनय के समन्वय से नृत्य-नाट्य की सृष्टि की तथा कविताओं में मुक्त छन्द का प्रवर्तन किया। अनुभूति तथा कल्पना के द्वारा देश-काल का अतिक्रमण करके उनके काव्य अन्तिम उपलब्धि की सीमा तक पहुंच गए और उनकी अलंकारविहीन भाषा मंत्र की तरह संयत हो गई।

इनके अलावा, आए चित्र! वे कतार-की-कतार रंग-बिरंगी चिड़ियों की तरह अवचेतन की गहरी तहों से पंख पसार उतर पड़े। संसार के इतिहास में यह पहले कभी नहीं हुआ था, जब परिपक्व उम्र में अपने क्षेत्र के बाहर कोई कवि ऐसी अजस्र सृष्टि में मस्त हो सका हो; यों कहा जाए तो रवीन्द्रनाथ की चित्रकला विदेश में ही सार्थक रूप से आरम्भ हुई थी। जब 1924 में वह दक्षिण अमरीका में थे, तब शारीरिक अस्वस्थता के कारण उन्हें ब्यूनेस आयर्स के पास एक शान्त देहात में आश्रय लेना पड़ा था। रोगमुक्त होकर, वह उन्हीं दिनों 'पूरबी' कविताओं की रचना कर रहे थे। रोग के बाद आनेवाले आलस्य के बीच उसी पुस्तक की पाण्डुलिपि के पन्नों पर, कटे हुए हिस्सों पर कलम घुमाते रहे। लेखन के साथ चलने वाले इस खेल में आधे मन से कलम घुमाने के छन्द में से, अपने अनजाने ही, अप्रत्याशित रूप निखर कर सामने आया। वह शब्द और स्वर लेकर अनेक खेल खेल चुके थे। अब साठ वर्ष के बाद शिशु भोलानाथ रेखा तथा रंग से रूप-सृष्टि के मनमौजी खेल में मस्त हो गया।

1930 में जब उन्होंने आखिरी बार पश्चिम की यात्रा की तो फ्रांस, इंग्लैंड, जर्मनी, डेनमार्क, रूस और अमरीका में उनके चित्रों की प्रदर्शनी हुई। उनकी कविता की भाषा और थी, तथा चित्रकला की भाषा और। अपने देश के लोग इन दोनों के बीच सामंजस्य नहीं देख

पाए और अचम्भे में पड़ गए। पश्चिम के कद्रदां लोग अपने संस्कार-मुक्त दृष्टिकोण से इस नए सृजन का मर्म खोजने की चेष्टा कर रहे थे। उन लोगों का कहना था कि ये चित्र चित्रांकन की रीति-पद्धति से बाहर तो हैं, पर जिस अन्तर्निहित स्रोत से यह अभिव्यक्ति हुई है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि कवि की चित्रकला में उस नवीनता का परिचय मिलता है, जो चिरन्तन है।

देशकाल तथा पात्र के भेद से मनुष्य की रुचि भी बदलती रहती है और उसके साथ-साथ अभिव्यक्ति का ढंग भी। पहले विश्वयुद्ध के बाद पाश्चात्य साहित्य-जगत में ऐसा ही एक परिवर्तन आया था। उन दिनों रवीन्द्रनाथ ने अपने अनोखे उपन्यास 'शेषेर कविता' (अन्त की कविता) की रचना की। भाषा तथा शैली की दृष्टि से उसमें कोरी आधुनिकता की झलक मिली। आश्चर्य की बात यह थी कि इतना होते हुए भी इस रचना में चिरन्तन रवीन्द्रमानस सार्थक रूप से प्रस्फुट हुआ था। सबसे विस्मयजनक बात यह है कि 'योगायोग' तथा 'शेषेर कविता' दोनों उपन्यास करीब-करीब एक ही समय में लिखे गए थे। तकनीक की दृष्टि से दोनों बिल्कुल भिन्न हैं। कवि के अन्तिम वर्षों की लिखी हुई कहानी 'लेबोरेटरी' के साथ 'गल्पगुच्छ' की किसी भी कहानी में उतना ही भेद है। कवि की अन्तिम रचनाओं को पढ़ने से ऐसा लगता है कि कवि केवल आधुनिक-काल के साथ कदम मिला कर चले ही नहीं थे, बल्कि साथ-ही-साथ उसे राह दिखाकर उसका अतिक्रमण करते हुए अनागत की ओर भी बढ़े थे।

चिट्ठी-पत्री तथा डायरी में उन्होंने अपने जापान, जावा, रूस, ईरान की यात्रा के अनुभवों का वर्णन विस्तृत रूप से किया था। इनको पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका देश-भ्रमण केवल आंखों से किसी देश को देखना मात्र नहीं था, बल्कि सारे हृदय से मनुष्य को परखना था।

अपने उन दिनों के निबंधों में कवि ने स्वर, छंद, भाषा, साहित्य, शिक्षा, समाज-व्यवस्था, राष्ट्रनीति, धर्मनीति, सभी पहलुओं से मनुष्य के बहुमुखी विकास का गम्भीरता से मनन किया।

इसी बीच आदि निर्झर की धारा ने आकर महानदी के हृदय में एक लहर उठा दी। उन्हें बचपन की बातें याद आ गईं। आत्मकथा, कहानी, बच्चों की तुकबन्दी, कविता, लोक-गीतों की पुरानी स्मृतियां कभी-कभी मधुर होकर व्यक्त हुईं। कभी अतीत में उन्होंने पिताजी से बकरोटा-शिखर के बंगले में ग्रह-नक्षत्र की बातें सुनी थीं और महर्षि के आदेश से अपने कच्चे हाथों की वह पहली रचना प्रस्तुत की थी। अब जीवन की अन्तिम सीमा में आकर 75 वर्ष की आयु में भी, विश्व की सृष्टि के रहस्य के सम्बन्ध में उनमें शिशु-जैसा विस्मय था। बचपन के उन्हीं परिचित चिरन्तन ग्रह-नक्षत्रों को लेकर प्रौढ़ हस्तों से 'विश्व-परिचय' ग्रन्थ लिखा।

'विश्व-परिचय' के उपसंहार में उन्होंने लिखा—सृष्टि के इतिहास में सबसे आश्चर्य-जनक घटना प्राण तथा मन का आविर्भाव है। प्रकृति विज्ञान के आधुनिकतम तत्वों के आधार पर उन्होंने कहा—एक सर्वव्यापी महाज्योति द्वारा जड़ विश्व के साथ मानसविश्व की एकता स्थापित हो रही है। यह महाज्योति क्या है? क्या यही वह उपनिषद् वर्णित आवि-विश्व की प्रकाश-शक्ति है।

'मानुषेर धर्म' के विषय में भाषण देते हुए रवीन्द्रनाथ ने कहा--मनुष्य की चेतना आलोक की भांति अपने ज्ञान, कर्म, भाव, सभी के साथ महाविकिरण की ओर धा रही है। उसी प्रसारण में उसकी महत्ता दीख पड़ती है, महामानव दिखाई पड़ता है।

आत्म-परिचय

जीवन के विभिन्न युगों में वह अपने विषय में कुछ-न-कुछ कह गए हैं। 'जीवन-स्मृति' (1912) और 'छेलेबेला' (1940) तथा अन्य रचनाओं में, विशेष रूप से पत्रों में, उनके जीवन की कहानी का थोड़ा-बहुत विवरण मिलता है। पर सिर्फ बाहरी घटनाओं से भीतर के मानव को हर समय पहचानना सम्भव नहीं। कवि के रूप में उनके अन्तरंग जीवन का किस तरह विकास हुआ, इस सम्बन्ध में भी वह कुछ लिख गए हैं। ये आत्मविश्लेषणमूलक निबन्ध तथा भाषण 'आत्म-परिचय' (1942) पुस्तक में संकलित हैं। इन लेखों से एक अंश यहां प्रस्तुत किया गया है, शायद इससे रवीन्द्रनाथ के जीवन के ऐसे पहलू का परिचय मिले, जो प्रायः उनकी जीवनियों में नहीं मिलता :

"मनुष्य के शरीर तथा प्राण से भी बड़ा एक और प्राण है, यह उसका प्राणधर्म है। प्राण के भीतर की इस सृजन-शक्ति, इस अदृश्य, निमूढ़ प्रवर्तन का मैंने बार-बार अनुभव किया है। हमारे जीवन के केन्द्रस्थल में इसी शक्ति ने संकल्प की एक धारा में हमारे जीवन के तथ्यों को उसके सारे सुख-दुख, सारी लाभ-हानि की विच्छिन्नता को एक अखण्ड तात्पर्य में गूंथ दिया है।

"हमारे भीतर उस शक्ति का क्या अभिप्राय है तथा उसकी क्या प्रकृति है, इसे मैं जान गया हूं। हमारे हृदय में अन्तर्देवता की अभिव्यंजना का आनन्द है, मैं साधु नहीं हूं; साधक नहीं हूं; तत्वज्ञानी, शास्त्रज्ञानी, गुरु या नेता नहीं हूं; मेरा तो एकमात्र परिचय यही है कि मैं कवि के अलावा और कुछ भी नहीं हूं। जो आवि-विश्व की अभिव्यक्ति के अहेतुक आनन्द में चंचल है, मैं उसी विचित्र का दूत हूं, उसी चंचल का लीला-सहचर हूं। मैं बार-बार यही कहने के लिए आया हूं, यह सृष्टि मुझे भायी है। चारों ओर सुर, गीत, नृत्य, चित्र के वर्णों में, रूप-रूप में, सुख-दुख के आघात-संघात में, अच्छे-बुरे के द्वन्द्व में जो 'विचित्र' अनेक रूपों में खेलता-फिरता है, मैं उस विचित्र रस का वाहक बना हूं, यही मेरा एकमात्र परिचय है।

"अनादि-काल से विचित्र, विस्मृत अवस्थाओं से होकर स्वयं प्रकाश स्वरूप ने मुझे इस वर्तमान रूप में व्यक्त किया है, उस अस्तित्व-धारा की विराट स्मृति मेरे अनजाने ही मुझ में है। इसीलिए मैं विश्व के तरु-लता, पशु-पक्षी के साथ ऐसी पुरानी एकता का अनुभव कर पाता हूं। जब मेरी उम्र थोड़ी थी, तब एकान्त में इसी विश्व प्रकृति के साथ मेरा हार्दिक सम्बन्ध था।

"पर विश्व-प्रकृति के साथ अपनी प्रकृति के मेल से ही तृप्ति को परिपूर्णता नहीं मिल सकती। इसलिए विश्वमानव के क्षेत्र में मैंने अपने को व्यक्त करके, अपने में जो बड़ा 'मैं' हूं, उसके साथ मिल जाने की चेष्टा की है। यह मिलन, द्वन्द्व, विरोध, संघात, तीव्र दुख के बीच सिद्ध हुआ है। दुख की इस साधना में मैंने आनन्द के ऋण से उऋण होना चाहा है। जहां ग्रामों की अव्यक्त वेदना अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल रही है, मैं वहां भी रहा हूं। शान्तिनिकेतन-आश्रम में मनुष्य के आत्मप्रकाश की इच्छा को मैंने जल-थल, शून्य की सहयोगिता से विश्व प्रकृति के उत्सव-प्रांगण में उद्‌बोधित करना चाहा है, आनन्द की वेदी पर ज्ञान को प्रतिष्ठित करना चाहा है, प्राण सम्मेलन के एक कल्याणकारी तथा सुन्दर रूप को व्यक्त करना चाहा है। प्रकृति के साथ मैंने जैसे एक ओर आनन्द का मिलन चाहा है, वैसे ही मैंने आश्रम के मनुष्यों के कर्म-रूप में हृदय का मिलन लाना चाहा है। यह भी मेरा काव्य है।

"मैंने इस विराट सत्ता को, जो सारी सत्ता के उन आत्मीय सम्बन्धों का ऐक्य-तत्व है, जिनकी खुशी से निरन्तर रूपों की अभिव्यक्ति द्वारा विचित्र रूप से मेरा प्राण आनन्दमय हो उठा, अपने अनुभवों से स्पर्श करना चाहा है।

"मैंने इस जगत को प्यार करना चाहा है, मैंने महान के सामने सिर झुकाया है। परम पुरुष के सामने आत्मनिवेदन द्वारा जो मुक्ति प्राप्त होती है, उस मुक्ति की मैंने कामना की है। साहित्य-साधना का अतिक्रमण करके, एक दिन उसी महामानव के उद्देश्य में मैंने यथा-साध्य कर्मों का अर्घ्य दिया है और अपने त्याग का नैवेद्य जुटाया है। मैं इस पृथ्वी-महातीर्थ पर आया हूं; यहां सब देव, सर्वजगत सर्वकाल के इतिहास के महाकेन्द्र में नर देवता रहे हैं। इस धूल-मिट्टी-तृण में मैं अपने हृदय को उड़ेले जा रहा हूं। वनस्पति औषध में जो मिट्टी की गोद में रहते हैं; जो मिट्टी से ही पलते-बढ़ते हैं, जो मिट्टी पर ही चलना शुरू करके अन्त में मिट्टी में ही विश्राम लेते हैं, मैं उन सबका मित्र हूं, मैं कवि हूं।"

मृत्यु के कुछ महीने पहले एक कविता में कवि यही बात दुहरा गए—

ए द्युलोक मधुमय, मधुमय पृथिवीर धूलि
अन्तरे नियेछि आमि तुलि,
एइ महामन्त्रखानि
चरितार्थ जीवनेर वाणी।

× × ×

ताइ एइ मंत्रवाणी मृत्युर शेषेर प्रान्ते बाजे
सब क्षति मिथ्या करि अनन्तेर आनन्द विराजे।
शेष स्पर्श निए याब यबे धरणीर
बले जाब तोमार धूलिर
तिलक परेछि भाले,
देखेछि नित्येर ज्योति दुर्योगेर मायार आडाले।
सत्येर आनन्दरूप धूलिते निएछे मूरति
एइ जेने ए धूलाय राखिनू प्रणति।

यानी, यह धरित्री-रूपी स्वर्ग मधुमय है, पृथ्वी की धूल मधुमय है। मैंने उसे अपने हृदय से लगा लिया है। यही महामंत्र सार्थक जीवन की वाणी है। इसीलिए यह मंत्र आज मृत्यु के अन्तिम प्रान्त में सभी क्षति को मिथ्या करके हृदय के आनन्द में ध्वनित हो रहा है। जब मैं धरणी का अन्तिम स्पर्श लेकर चला जाऊंगा, तब मैं यही कहकर जाऊंगा कि मैंने तुम्हारी धूल से माथे पर तिलक लगाया है—मैंने दुर्योग की माया की ओट में नित्य की ज्योति को देखा है। इसी धूल पर सत्य का आनन्दमय रूप मूर्त है, मैं यही जानकर इस धूलि को अपना प्रणाम दे जाता हूं।

बाईस श्रावण

1936 के बाद से गांधीजी के अनुरोध या शारीरिक अवस्थावश, किसी भी कारण से, रवीन्द्रनाथ बंगाल से ज्यादा बाहर नहीं गए। बस, बोलपुर, कलकत्ता और कलिम्पोंग इन्हीं तक उनका भ्रमण सीमित रह गया। यह जैसे फिर बचपन की लक्ष्मणरेखा में सीमित जीवन था। फर्क इतना ही था कि अब श्याम नौकर नहीं था, उसके स्थान में स्वयं महाकाल था, जो सबका अपहरण करता है, जो अपने समय पर शिथिल पके फल को निर्मम स्नेह के साथ उठा लेता है। बाहर घूमने-फिरने का रास्ता बन्द, इसलिए घर बदल-बदलकर रवीन्द्रनाथ अपने परिवेश को ताजा और सहनीय बना लेते थे। इसी तरह एक के बाद एक 'श्यामली' (1935), 'पुनश्च' (1937), 'उदीची' (1939) तैयार हुए। तीनों मकान अकेले रहने के उपयुक्त छोटे-छोटे थे। छोटा-सा डेरा।

इस बीच पूर्व तथा पश्चिम में युद्ध की दुन्दुभि बज उठी। साम्राज्य-लोभी जापान ने चीन पर हमला किया था, कवि के हृदय पर गहरी चोट पहुंची थी, दोनों ही प्राच्य देश थे! दोनों ही उनको समान रूप से प्रिय थे। उन्होंने कवि नोगुचि को कई पत्र लिखकर अपने हृदय का ताप व्यक्त किया। सितम्बर 1938 में हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया की स्वाधीनता नष्ट कर दी और साल भर में यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हो गया। हिटलर तथा मुसोलिनी के

दबाव से सारा सभ्य जगत जब संकट में पड़ गया, तब भी अंग्रेज अपने साम्राज्यवाद के अन्ध-मोह से भारत को पैरों के नीचे रखेगा, स्वेच्छाचार को रोकने के लिए भी उसे स्वतंत्रता नहीं देगा, उसकी इस कृतघ्नता ने उनके हृदय में मर्मान्तक आघात किया।

इसी के साथ-साथ रोग से लड़ाई, आसन्न मृत्यु से समझौता चल रहा था। पहले शायद ही कभी दूसरे के हाथों से सेवा ग्रहण की हो, अब असहाय जीर्ण देह की देखभाल की जिम्मेदारी डाक्टर, वैद्य, नर्स, नौकर-चाकर के हाथों छोड़नी पड़ी। एक समय वह पूर्ण स्वास्थ्य के अधिकारी थे, आज क्लान्त शरीर को जरा के सामने हार माननी पड़ेगी, यह भी जैसे एक लज्जा की बात थी, एक अपमान-सा था, पर कवि यह समझ रहे थे कि यह भी एक अहंकार ही है। ईश्वर की कृपा से मनुष्य का प्रेम वह जीवन-भर पाते आए थे, आज जीवन की गोधूलि-बेला में स्नेहमय सेवा के माधुर्य को भाग्य से अगर स्वीकार करना ही पड़ता है, तो वह भी तो ईश्वर-कृपा ही है। और रहा मृत्युभय! जिस दिन से उन्होंने अपनी अक्षत, अपराजित आत्मा को पहचान लिया था, उसी दिन मृत्युभय समाप्त हो गया था।

अपनी एक सेविका के साथ वार्तालाप करते समय अपने उन दिनों के मनोभाव पर वह प्रकाश डाल गए—मैं जो जिन्दा हूं, सो केवल इसीलिए कि मैंने इस धरती को बड़ा प्यार किया है। विदाई की बेला में मैं यह कहकर जाऊंगा कि मुझे यह धरती बहुत ही प्रिय लगी थी। शायद ही किसी और को धरती से इतना प्यार हो।

—मेरा सौभाग्य है कि देश-विदेश, हर जगह मुझे बहुत प्यार मिला। प्यार योग्यता का विचार नहीं रखता; जिन्होंने प्यार किया है, उनकी अपनी ही विशेषता है, मैं निमित्त-मात्र हूं। उनकी इस उदारता से मैं धन्य हूं। अपनों से मुझे जितना नहीं मिला, उससे कहीं अधिक परायों से मिला।

14 अप्रैल 1941 को रवीन्द्रनाथ की अस्सीवीं वर्षगांठ थी। आश्रमवासियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—आज तुम से घिरे रहकर मैं सोचता हूं, विधाता ने हमारे जीवन में क्या-क्या लीलाएं कीं। उस दिन तो यह कल्पना में भी नहीं थीं। प्रचलित भाषा में जिसे आत्मीय कहते हैं, वह तुम मेरे नहीं हो, इसीलिए तुम्हारी प्रीति इतनी मूल्यवान है...मेरे जैसा सौभाग्य बहुत थोड़े लोगों का होता है। केवल हमारे देशवासियों ने ही मुझे प्यार किया हो, यह बात नहीं है, सुदूर देशों के कितने ही मनस्वी, तपस्वी, रसज्ञों ने भी मुझे अजस्र स्नेह से अपनाया है। मुझे यह मालूम नहीं कि उन्होंने मुझमें या मेरे कर्म में क्या पाया है। आज मैं सब के स्नेह, ममता, सेवा को हृदय से स्वीकार करता हूं। जिन्होंने मुझे इस अद्भुत गौरव का अधिकारी बनाया है, उन्हें मैं प्रणाम करता हूं।

इसी जन्मोत्सव में उनका अन्तिम भाषण 'सभ्यतार संकटे' (सभ्यता का संकट) पढ़ा गया। लोभ, हिंसा, शक्ति और मदमत्तता पर आधारित पश्चिमी सभ्यता के बारे में उन्होंने कहा कि यह महायुद्ध इस सभ्यता पर आनेवाले संकट की भूमिका है और उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन को बिलकुल व्यर्थ बताया और अन्त में कहा कि दरिद्रता द्वारा लांछित इस

प्राच्य देश में ही शायद उस महापुरुष का आविर्भाव होगा, जो आने वाली पीढ़ियों की इस विश्वव्यापी विनाश से रक्षा करेगा।

उसी महामानव के आवाहन-गीत से उत्सव समाप्त हुआ—

ओई महामानव आसे;
× × ×
उदयशिखरे जागे माभैः माभैः
नव जीवनेर आश्वासे।
जय जय रे मानव अभ्युदय,
मन्द्रि उठिलो महाकाशे।

यानी, महामानव आ रहा है। उदयशिखर पर 'माभैः' सुनाई पड़ रहा है, जो नवजीवन का आश्वासन है। मानव-अभ्युदय की जय हो। आकाश में यह शब्द गूंज उठा है।

उनका स्वास्थ्य क्रमशः बिगड़ता ही गया। डाक्टरों ने तय किया कि शल्य-चिकित्सा के अलावा, कोई चारा नहीं है। 25 जुलाई 1941 को रवीन्द्रनाथ को कलकत्ता ले जाने का निश्चय किया गया। किसी प्रकार की विज्ञप्ति प्रकाशित नहीं की गई, फिर भी जैसे हवा में खबर फैल गई। आश्रमवासी 'उदयन' के प्रशस्त चबूतरे पर जमा हो गए। किसी के गले से आवाज नहीं निकलती थी। दोमंजिले से स्ट्रेचर पर कवि उतारे गए। आंख पर काला चश्मा, गोद पर दोनों हाथ जुड़े पड़े थे। कोई भी तैयारी नहीं थी, आश्रमवासी समवेत कंठ से गा उठे—

आमादेर शान्तिनिकेतन
आमादेर सब होते आपन

आश्रम-गुरु चुप सुनते रहे, नमस्कार किया, नीले रंग वाली बस धीमी गति से चल पड़ी।

30 जुलाई को जोड़ासांको के मकान में आपरेशन हुआ। उस दिन सवेरे भी कविता की रचना की। अपनी अन्तिम कविता—

सत्येरे से पाय
आपन आलोके धौत अन्तरे अन्तरे।
किछुते पारे नातारे प्रवंचिते,
शेष पुरस्कार निये जाय से ये
आपन भाण्डारे।

यानी, जो आलोक से धौत अन्तर में सत्य को पाता है, उसे कोई भी ठग नहीं सकता। वह अपने भण्डार में अन्तिम पुरस्कार लेकर ही चला जाता है।

3 अगस्त से एकाएक उनकी हालत बहुत बिगड़ने लगी, चेतना आच्छन्न हो गई। 22वें श्रावण—बृहस्पतिवार, 7 अगस्त 1941 की जगमगाती हुई दोपहरी में कवि की देहमुक्त आत्मा उस आनन्द—'रूपम्मृतंयद्विभाति' में विलीन हो गई। जिस मकान में इहलोक में वह भूमिष्ठ हुए थे, उसी मकान से उन्होंने महाप्रयाण किया। 25वीं वैशाख और 22वीं श्रावण इन दोनों के बीच अस्सी रुद्राक्षों की माला अन्तिम ग्रंथि पर आकर मिल गई। उस दिन राखी-पूर्णिमा थी। जन्म तथा मृत्यु में, बन्धन तथा मुक्ति ने मिलकर उस दिन जिस अलौकिक जीवन को राखी बांधी, उसकी पूर्णता का प्रसाद सभी कालों तथा देशों के लिए रह गया।

परिशिष्ट

कुछ चुनी हुई पुस्तकों के प्रथम प्रकाशन की तारीख के साथ विषयानुसार सूची—

काव्य— मानसी-1890, कथा-1900, कथा ओ काहिनी-1908, क्षणिका-1900, नैवेद्य-1901, खेया-1906, शिशु-1909, गीतांजलि-1910, बलाका-1916, पतालका-1918, लिपिका-1922, पुरबी-1925, पुनश्च-1932, खापछाड़ा-1937, प्रान्तिक-1938, नवजातक-1940, जन्मदिने-1941।

नाटक— वाल्मीकि-प्रतिभा-1881, विसर्जन-1890, वैकुण्ठेर खाता-1897, हास्य कौतुक-1907, शरदोत्सव-1908, राजा-1910, डाकघर-1912, अचलायतन 1912, मुक्तधारा-1922, नटीर पूजा-1926, रक्त करवी-1926, ताशेर-देश-1933, चित्रांगदा नृत्य-नाट्य-1936।

भ्रमण— यूरोप प्रवासीरपत्र-1881, जापान यात्री-1919, राशियार चिठि-1931।

उपन्यास— चोखेर बालि-1903, गोरा-1910, घरे बाहिरे-1916, योगायोग-1929, शेषेर कविता-1929।

निबन्ध— पंचभूत-1897, विचित्र प्रबन्ध-1907, चारित्र पूजा-1907, साहित्य-1907 समूह-1908, स्वदेश-1908, समाज-1908, शिक्षा-1908, शब्द-तत्व-190 , धर्म-1909, मानुषेर-धर्म-1933, भारतपथिक राममोहन राय-1933, शान्तिनिकेतन-1935, छन्द-1936, कालान्तर-1937, विश्व परिचय-1937, बंगला-भाषा-परिचय-1938, सभ्यतार संकट-1941।

संस्मरण तथा पत्रावली—जीवनस्मृति-1912, छिन्न पत्र-1912, भानुसिंहेर पत्रावली-1884 छेले बेला-1940, आत्म परिचय-1943।

चित्र— चित्रलिपि (1) 1940, चित्रलिपि (2) 1951।

कहानी— गल्पगुच्छ (प्रथम खण्ड)-1900, गल्पसल्प-1941।

गीत— गीतवितान-1931 (प्रथम खण्ड, द्वितीय खण्ड), 1939 (तृतीय खण्ड)।

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार